मैं पुष्टिभक्तिमार्गीय वैष्णव हूँ.

श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाका निष्ठापूर्वक अनुसरण करना यह मेरा परमधर्म है.

देवाधिदेव पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही एक मेरा आश्रयस्थान है.

मन, वाणी ओर कृति इन तीनों से श्रीकृष्णकी सेवा करनेमें ही मेरे जीवनकी कृतार्थता है.

श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाका अनुसरण करने-वाले सब वैष्णव और गुरुजन मेरे लिए आदरणीय है.

पुष्टि पथ

पुष्टि पथ

पुष्टिपथ

लेखक: गोस्वामी शरद अनिरुद्धलालजी, मांडवी-हालोल.

प्रकाशक: श्रीपुरुषोत्तम पुष्टिमार्गीय चेरिटेबल ट्रस्ट, जुनागढ.

प्रकाशन वर्ष: १९९८, प्रथम आवृत्ति: १००० प्रति.

श्रीपुरुषोत्तम पुष्टिमार्गीय पाठशाला, जुनागढ द्वारा संचालित पुष्टिमार्गीय परीक्षाके तृतीय वर्षके परीक्षार्थिओंके लिए

नि:शुल्कवितरणार्थ.

मुद्रक: डिम्पी प्रिन्टर्स
गणेश मोटर ड्राइविंग स्कूलके पीछे, आझाद रोड,
अंधेरी-पूर्व, मुंबई- .

परीक्षासंचालक मुख्य केन्द्र:
श्रीपुरुषोत्तम पाठशाला
C/O. गो. श्रीकिशोरचन्द्रजी श्रीपुरुषोत्तमलालजी
मोटी हवेली, जुनागढ.

परीक्षासंचालक उपकेन्द्र:
१. श्रीगोविन्दभाई गांधी
'व्रजरज', पोस्ट ओफिस के पास, हालोल, जी. पंचमहाल.
पीन: ३८९३५०, फोन: ०२६७६-२७१९.

२. श्रीकृष्णकान्तभाई वोरा
बी-१५, गुजराती सोसायटी, नहेरु रोड, विलेपार्ले-पूर्व,
मुंबई-४०००५७.
फोन: ०२२-६१७०४१७, ६१८४२१५.

॥श्रीहरिः॥

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंकी प्राथमिक जानकारी 'प्रवेशिका'द्वारा पानेवाले पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके जिज्ञासुओंके हृदयमें सिद्धान्तोंका सच्चा स्वरुप 'पुष्टिप्रवेश'से सुदृढ करने के बाद, पुष्टिपथिकोंको पुष्टिमार्गपर अग्रसर करने अब 'पुष्टिपथ' नामक ग्रन्थ प्रकट होने जा रहा है.

पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तोंके ऐसे उत्तरोत्तर गहन अभ्यास और सुव्यवस्थित परीक्षाओंके आयोजनद्वारा स्वमार्गमें प्रवर्तमान अज्ञान अश्रद्धा ओर अरुचि का निवारण करने के लिए हम सब श्रीपुष्टिप्रभु श्रीमहाप्रभु और श्रीप्रभुचरण की कृपासे अवश्य सक्षम बनेंगे!

सब पुष्टिमार्गिओंको इसमें आगे आ कर—किसी भी प्रकारके भय या संकोच रखे बिना—स्वमार्गकी सच्ची सेवा करने के लिए तत्पर होना ही चाहिए. श्रीमहाप्रभु हमें निर्भीक भावना कर्तव्यनिष्ठा और सानुकूलता प्रदान करे, ऐसी शुभेच्छा के साथ...

विजयादशमी — गोस्वामी श्याम मनोहर

॥श्रीहरिः॥

प्राक्कथन

'प्रवेशिका'द्वारा 'पुष्टिप्रवेश'को पानेवाले पाठकगणको श्रीपुरुषोत्तम पुष्टिमार्गीय पाठशाला द्वारा संचालित पुष्टिमार्गीय परीक्षाका तीसरा पाठ्यपुस्तक देते हम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं.

जिस तरह वैदिक-वर्णाश्रमधर्म ओर उसके सिद्धान्त सनातन होते हैं वैसे ही श्रीवल्लभाचार्यचरणनिर्दिष्ट पुष्टिभक्तिमार्ग और उसके सिद्धान्त भी समय स्थान परिस्थिति या व्यक्ति से अप्रभावित रहनेवाले—सनातन ही हैं. ऐसे सनातन सिद्धान्तोंके बारेमें कोई निर्णय जब उसके अपने स्वरूपपर निगाह न रखकर समय स्थान परिस्थिति या व्यक्ति को लक्ष्यमें रखकर किये जाते हो तब वैसे सिद्धान्तनिर्णय प्रायः अयथार्थही होते हैं. अतः, सर्वथा निरपेक्ष होकर सिद्धान्तप्रवर्तक आचार्योंके वचनोंकी परस्पर एकवाक्यता साधकर यदि कोई सिद्धान्तनिर्णय किया जाता है तो ही उसकी यथार्थता बनी रहती है. इस पुस्तकमें भी अतः—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यांन्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

-के न्यायसे, अति पुरानी या पुरानी होने से, दीक्षा सेवा या मनोरथोंकी प्रवर्तमान परंपराएँ आज जैसे स्वरुपमें दीख रही है वो उसका यथार्थस्वरूप ही है वैसा दुराग्रह, या तो इन परंपराओंके बारेमें आज नवीन जो कुछ भी कहा जा रहा है वो सब आज-कलका होनेकी वजह से अयथार्थ ही है वैसा दुराग्रह —इन दोनों तरहके मूढबुद्धिजन्य दुराग्रहोंको छोडकर श्रीआचार्यचरणप्रवर्तित सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है; जिससे कि सिद्धान्तोंका याथार्थ्य उसके मूल रूपमें बना रहे. हमें ऐसा दृढ विश्वास हैं कि यथार्थसिद्धान्तोंके जिज्ञासु पाठकोंको तो यह पुस्तक अवश्य संतुष्ट करेगा. जिनकी आंखे परन्तु श्रीमद्आचार्यचरणविरचित सिद्धान्तग्रन्थोंका अवलोकन करनेके बजाए सम्प्रदायमें अधुना प्रचलित व्यावसायिक तौरपे चलती सेवा-मनोरथोंकी प्रदर्शनिओंकी, अंधाधुंध देने-लेनेमें आती दीक्षाकी एवं देवद्रव्यके प्रसादको हजम करनेकी अर्वाचीन या आधुनिक कुपरंपराओंका ही अवलोकन करने के लिए अभ्यस्त हैं उन्हें यदि ये 'पुष्टिपथ' संतुष्ट न कर सके तो उसमें बेचारे 'पुष्टिपथ'का क्या अपराध? क्योंकि 'पुष्टिपथ'की प्रतिबद्धता तो मात्र श्रीआचार्यचरण प्रकटित सिद्धान्तोंके साथ ही है और रहेगी. ऐसी ही प्रतिबद्धता हम सब पुष्टिपथिकोंमें जगे ऐसी शुभकामना.

हमेशाकी तरह इस बार भी पू. श्रीश्याममनोहरजीने अपने आशीर्वचनोंसे इस कार्यको प्रोत्साहित किया है इसलिए हम आपके चिरकृतज्ञ हैं. ऐसे ही आपके शुभाशीर्वाद सम्प्रदायके इस सेवाकार्यको प्राप्त होते रहे ऐसी शुभाकांक्षा. अन्तमें, इस पुस्तकके प्रकाशनकार्यमें हमारे सहयोगी श्रीअसित-श्रीमतीनीपा की तत्परताका विस्मरण भी अशक्यही है.

गथाष्टमी परीक्षासंचालक मंडल (छठ्ठागढ) की ओरसे
गो. शरद

पुस्तिका कैसे पढोगे?

१. पाठमें आते हरएक महत्त्वपूर्ण शब्द पर विशेष ध्यान देते विचारपूर्वक हरएक पाठको, कम से कम, दो बार पढिये.
२. पढ लेने के बाद 'ज्ञानकसौटी'में दिए गए हरएक पाठके प्रश्नोंके उत्तर मनमें सोचिये. उत्तर न आये तो पाठमें से ढूंढ निकालिये. इस तरह हरएक प्रश्नका अभ्यास करिये.
३. उसी तरह पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या के लिए तैयारी करिये.

अनुक्रमणिका

पाठ पृष्ठ

१. दीक्षादानविचार *१-२१*

व्याख्या

दीक्षा = मन्त्रदान

दान

मन्त्रदानांगका विचार: २-१३

१. मन्त्रदाता

२. मन्त्रग्रहीता

३. देयवस्तु = मन्त्र, मन्त्रकी गोपनीयता

४. दीक्षास्थान

५. दीक्षाका समय

६. उपक्रम तथा भावना

सम्प्रदायोंमें दीक्षाप्रणाली क्यों ? : १४-२०

१. संकल्प

२. मान्यता

३. पवित्रता : आन्तरपवित्रता, बाह्यपवित्रता.

४. योग्यता.

२. पुष्टिमार्गीयदीक्षाका विचार २२-५१

द्विविधदीक्षा

साम्प्रदायिक दीक्षादानांगोंका विचार: २४-४८

१. पुष्टिभक्तिमार्गी दीक्षादाता —

कृष्णसेवापरायणता, दम्भादिरहितता, भागवततत्त्वज्ञता, नरत्व

कैसे वल्लभवंशजको गुरु नहीं बनाना चाहिये ?

गुरुका त्याग कब ?

गुरुके अभावमें क्या करना चाहिये ?

२. पुष्टिमार्गीय शिष्य —

पुष्टिजीवोंकी पहचान, रुचि होनेकी प्रंक्रिया, सार

३. देयवस्तु = दीक्षामन्त्र —

मन्त्रकी उत्पत्ति — १. शरणमन्त्र २. समर्पणमन्त्र,

मन्त्रजपका प्रकार

४. पुष्टिभक्तिमार्गीय दीक्षास्थान

५. पुष्टिभक्तिमार्गीयदीक्षा प्रदान करनेका समय

६. उपक्रम / भावना — उपक्रम, भावना.

दीक्षाका प्रभाव क्यों नहीं दीखता है ?

३.सेवामय जीवन ५२-७४

व्याख्या

स्वभावभेदसे भक्तिभेद :

१. अर्थार्थीभक्त २. आर्त(दुःखी)भक्त ३. जिज्ञासुभक्त

४. ज्ञानीभक्त ५. निर्गुण-पुष्टिभक्त

प्रभुसेवा कर्तव्य नहीं है, आवश्यकता है

प्रभुसेवा-भक्तिकी आवश्यक्ताका अनुभव क्यों नहीं होता है? ५५-६२

१. आधिभौतिक आवश्यकता २. आध्यात्मिक आवश्यकता

३. आधिदैविक आवश्यकता.

भावोद्बोध प्रकार —भगवत्स्वरूपज्ञान, जीवस्वरूपज्ञान, जीवात्मा-परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान.

समर्पणका स्वरूप ६३-७४

समर्पण = सुपुर्दगी

समर्पण = स्नेहका मापदण्ड

निवेदन तथा समर्पण

निवेदन-समर्पणकी दानसे भिन्नता

समर्पण और अनन्यता

अनन्यता : अन्याश्रयत्याग, असमर्पितभोगत्याग, दुःसंगत्याग, असद् आलाप-क्रिया-विचार त्याग, मन लगने पर त्याग सहज हो जाता है.

४. सेवाका माहात्म्य ७५-८२

पुष्टिभक्तिमार्गीय साधना सेवा ही क्यों ?

सर्व साधनाओंमें सेवा श्रेष्ठतम है

स्नेहसम्बन्धकी आवश्यक्ता : सेवा-समर्पण

सर्व साधनाओंका समावेश सेवामें
(१.ज्ञान २.कर्म ३.ध्यान-योग ४.जप ५.त्याग ६.तप ७.व्रत-उपवास ८.प्रायश्चित्त)
अहन्ता-ममताकी शुद्धि सेवासे ही — अहन्ता, ममता
भगवत्सेवक उत्तमोत्तम योगी.

५. सेवास्वरूप ८३-८९

कृष्णसेवाका स्वरूप
१. फलरूपा सेवा मानसी, २. साधनरूपा सेवा तनुवित्तजा सेवा
— तनुवित्तजा = सर्वस्वसमर्पण; तनुजा, वित्तजा नहीं; तनुवित्तजा.

६. सेव्यस्वरूप ९०-१०६

व्याख्या
भगवदागमन कैसे?
मूर्ति / स्वरूप तथा भगवान में भेद नहीं है
भगवदनुभूति कैसे?
— अवतारकालीन (प्रकट) लीला
— अनवतारकालीन (अप्रकट) लीला
पुष्टिभक्तिमार्गमें तो सर्वदा अवतारकाल ही है
भगवदनुभूतिमें अज्ञान और भक्तिका अभाव बाधक
भगवदाराधन सर्वत्र क्यों नहीं?
स्वार्थ-परार्थप्रतिष्ठा — १.स्वार्थप्रतिष्ठा, २.परार्थप्रतिष्ठा
पुष्टिभक्तिमार्गमें भावप्रतिष्ठा
परार्थप्रतिष्ठा पुष्टिमार्गमें अमान्य
सेव्यस्वरूप और भाव, सेव्यस्वरूपोंमें तारतम्यभाव नहीं

७. सेवास्थल १०७-११२

प्रभुसेवा भक्तकी जीवनप्रणाली होती है
स्वगृहसेवाके बिना समर्पण अशक्य
स्वगृहसेवाके अभावमें सब असमर्पित
भक्तिकी वृद्धि एकान्तसाधनासे ही
प्रभुकी स्वार्थप्रतिष्ठा = गृहसेवा

८. सेवार्थ आजीविका ११३-११५
९. सेवा और सदाचार ११६-१२१

उत्सर्ग, अपवाद, प्रतिप्रसव

१. दीक्षादानविचार

व्याख्या :

शिष्यके आत्मकल्याणकेलिये गुरुद्वारा शिष्यको किये जाते इष्टदेवके नाममन्त्रके दानको 'दीक्षा' कहा जाता है.

दीक्षा=मन्त्रदान :

इस व्याख्याके अनुसार दीक्षाको मन्त्रका एक विशेष प्रकारका दान कहा जाता है. मन्त्रदानके इस प्रसंगमें गुरु विधिपूर्वक मन्त्र प्रदान करते हैं तथा शिष्य मन्त्रको ग्रहण करता है. सामान्यतया ऐसा देखा जाता है कि जब किसी वस्तुका दान किया जाता है तब दान की जाती वस्तुपर दानकर्ताका स्वामित्व समाप्त हो जाता है तथा दान ग्रहण करनेवालेका उस वस्तुके ऊपर स्वामित्व स्थापित होता है. दीक्षामें, परन्तु, इससे कुछ विलक्षण बात होती है. दीक्षार्थीका स्वामित्व तो मन्त्रके ऊपर स्थापित होता ही है; मन्त्र प्रदान करनेवाले गुरुका स्वामित्व भी मन्त्रके ऊपर अक्षुण्ण रहता है. तथापि, शास्त्र और परम्परा में भी दीक्षाको मन्त्रका एक विशिष्ट प्रकारका दान माना गया है.

दान :

सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें दानकी बड़ी भारी महत्ता स्वीकारी गयी है. हमारे शास्त्रमें भी, अतएव, दानकी महत्ताका वर्णन बड़े ही विस्तारसे प्राप्त होता है. शास्त्रमें दान करने तथा लेनेके विषयमें दाता तथा प्रतिग्रहीता केलिये अनेक विधि-निषेधोंका व्यवस्थापन किया गया है. इसके अन्तर्गत दानके कुल छह अंगोंका वर्णन शास्त्रमें किया गया है. वे दानांग इस प्रकार हैं :

(१) दाता = प्रदान करनेवाला.
(२) प्रतिग्रहीता = लेनेवाला.
(३) देय वस्तु = दानमें जिस चीजको दिया जाता हो. यथा: अन्न, विद्या, मन्त्र आदि.
(४) स्थान = जहां वस्तु दी तथा ली जाती हो.
(५) समय = जब वस्तु दी तथा ली जाती हो.

(६) उपक्रम तथा भावना = जिस प्रक्रिया अथवा भावना से वस्तु दी अथवा ली जाती हो.

दान करने तथा लेने वालोंको, अर्थात् दोनोंको, दानके इन छह अंगोंका शास्त्रदृष्टिसे विचार करनेके पश्चात् ही दान करना अथवा लेना चाहिये. अन्यथा वह दान प्रशस्त नहीं माना जाता है. संक्षेपमें कहा जाय तो — योग्य व्यक्तिको, योग्य स्थान तथा समयमें, जिससे वह सन्तुष्ट हो ऐसी वस्तुका, योग्य प्रक्रियासे, श्रध्धापूर्वक, योग्य व्यक्तिद्वारा जब दान किया जाता है तब वह दान प्रशस्त कहलाता है. और ऐसा दान ही सत्फलको प्रदान करनेवाला होता है. यहां 'योग्य' शब्दका अर्थ मुझे या आपको जो ठीक-अच्छा लगता हो उसे नहीं समझना चाहिये. शास्त्रकी दृष्टिमें जो ठीक-अच्छा-प्रशस्त हो उसीको योग्य समझना चाहिये. इससे विपरीत; यदि अयोग्य व्यक्तिको, अयोग्य स्थान-समयमें, अयोग्य प्रकार अथवा निन्दित-निषिद्ध भावोंसे, अयोग्य व्यक्तिद्वारा, अयोग्य वस्तुका दान किया जाता है तो उस दानको शास्त्रमें निन्दित गिना गया है.

मन्त्रदानांगका विचार

१. मन्त्रदाता :

मन्त्र प्रदान करनेवालेको 'मन्त्रदाता' 'उपदेष्टा' अथवा 'गुरु' कहा जाता है. दीक्षा लेनेसे पूर्व दीक्षार्थीकिलिये यह आवश्यक होता है कि जिसके पाससे वह दीक्षा लेने जा रहा है वह (मन्त्रदाता - गुरु) मन्त्र = दीक्षा प्रदान करनेकी शास्त्रीय तथा साम्प्रदायिक योग्यता रखता है कि नहीं उसका परीक्षण करे.

सम्प्रदायकी गुरु-शिष्य परम्परा सुव्यवस्थितरूपसे निरन्तर चलती रहे तदर्थ प्रायः सभी सम्प्रदायके स्थापक आचार्योंने अपने-अपने धर्मग्रन्थोंमें इन विषयोंका निरूपण किया ही होता है कि सम्प्रदायकी मन्त्रदीक्षा प्रदान तथा ग्रहण करनेकेलिये किसे योग्य अथवा अयोग्य माना जाय. यथा, श्रीमहाप्रभुने

स्वरचित 'सर्वनिर्णयनिबन्ध'ग्रन्थमें, पुष्टिभक्तिमार्गकी शरण तथा समर्पण दीक्षाएँ प्रदान करनेकेलिये किन स्ववंशजोंको योग्य अथवा अयोग्य माना जाना चाहिये इस विषयका निरूपण किया ही है. इस विषयका विशद विवेचन आगे चलकर किया जायेगा. सम्प्रदाय कोई भी हो; दीक्षार्थीको ऐसे धर्मग्रन्थोंका भलीभांति अध्ययन करनेके पश्चात् योग्य गुरुको खोज कर ही उनसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये.

साम्प्रदायिक योग्यताओंके अतिरिक्त कुछ ऐसी सामान्य योग्यताएँ भी गुरुके परीक्षणार्थ सूचित की जा सकती हैं, जिनका कि स्वीकार करनेमें किसी भी सम्प्रदाय अथवा दीक्षार्थी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये. यथा, दीक्षार्थी यह जाननेका प्रयत्न करे कि —

(१) दीक्षादाता जिस सम्प्रदायकी दीक्षा प्रदान करता है उसको उस सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका सम्पूर्ण ज्ञान है ?

(२) दीक्षादाता अन्योंको जब सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेका उपदेश करता है तब वह खुद भी (पाखण्ड दम्भ लोभ-लालच अथवा अभिमान आदिसे रहित हो कर) सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना साम्प्रदायिक जीवन जीता है ?

(३) अपने शिष्यका अज्ञान दूर हो तथा उसे सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका सम्पूर्ण ज्ञान हो तदर्थ दीक्षादाता क्या निरन्तर प्रयत्नशील रहता है ?

दीक्षादाता चाहे किसीभी सम्प्रदायका क्यों न हो, इन तीन प्रश्नोंके उत्तर 'हां'में मिलने ही चाहिये. अर्थात्, स्वमार्गीय सिद्धान्तोंका ज्ञान, सिद्धान्तानुसार दम्भादिरहित जीवन तथा शिष्यको सिद्धान्तोंका उपदेश करनेमें तत्परता — ये तीन बातें किसीभी दीक्षादातामें अनिवार्यरूपसे होनी ही चाहिये.

२. मन्त्रग्रहीता :

गुरुसे मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेवालेको 'मन्त्रग्रहीता' अथवा 'शिष्य' कहा जाता है. दीक्षा लेनेसे पूर्व शिष्यको जैसे गुरुकी योग्यताका परीक्षण करना होता है वैसे ही दीक्षा

प्रदान करनेसे पूर्व गुरुकेलिये भी यह आवश्यक होता है कि वह दीक्षार्थीकी योग्यता-अयोग्यताका भली-भांति परीक्षण करे.

वस्तु चाहे कितनी ही उत्तम या कल्याणकारी क्यों न हो, उसे ऐसे व्यक्तिको कभी भी नहीं दी जानी चाहिये कि जो उसके उपयोग और महत्व को जानता न हो. इसी तरह, जिसे देनेपर वस्तुके दुरुपयोगकी आशंका रहती हो अथवा लेनेवालेको भी हानि पहुँच सकती हो उसे वह वस्तु नहीं देनी चाहिये. संक्षेपमें कहा जाये तो अयोग्य व्यक्तिको वस्तु नहीं देनी चाहिये. वस्तु तो उसीको दी जानी चाहिये कि जो उसका महत्व और उपयोग अच्छी तरहसे समझता हो तथा उसकी सुरक्षा भी कर सकता हों. यही कारण है कि शास्त्रमें भी दान सुपात्रको ही करना चाहिये ऐसा कहा गया है. कुपात्रको दान करनेवालेको शास्त्र दोषी मानता है.

किसी भी वस्तुका उपयोग अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकारके काममें हो सकता है. बुरी वस्तु भी यदि सज्जनके हाथमें होगी तो उसका सदुपयोग हो पायेगा; और अच्छी वस्तु भी यदि दुर्जनके हाथमें पड़ जायेगी तो उसके दुरुपयोगकी सम्भावना रहती है. धनद्वारा अनेक सत्कार्य हो सकते हैं. धन, परन्तु, सज्जनके पास होगा तो उसका कल्याणकार्यमें उपयोग होगा और वही यदि किसी शराबी जुआरी विलासी अभिमानी लोभी प्रकृतिके दुर्जनोंके हाथों पड़ेगा तो अनिष्टकारक ही सिद्ध होगा. किसी औषधिको उसके उत्तम होनेके कारण हर किसीको देने लग जायें तो क्या परिणाम हो? आत्मरक्षाकी आवश्यकता हर कोई अनुभव करता ही है. ऐसी स्थितिमें सभीके हाथोंमें बंदूकें दे दी जायें तो? दीक्षाके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये. अयोग्य व्यक्तिको यदि दीक्षा दी जाती है तो दीक्षा तो निष्फल जाती ही है, साथ ही साथ अयोग्य व्यक्तिको दीक्षा देनेके अपराधका दण्ड भी गुरुको भुगतना पड़ता है. अतः यदि दीक्षा लेनेवाला कोई सुयोग्य शिष्य न मिलता हो तो जो भी आये उसे

दीक्षा देते जानेकी उदारता गुरुको नहीं दिखानी चाहिये.

उत्तम वस्तुके सर्जकके मनमें ऐसी भावना रहती है कि उसकी वस्तु सदा योग्य व्यक्तिके हाथोंमें ही रहे; कभी भी अयोग्य व्यक्तिके हाथोंमें न जाये, लुप्त भले ही हो जाये. मन्त्रदानकी परम्पराके आद्यस्थापक आचार्य, भगवान् अथवा शास्त्रकारों के मनमें भी ऐसा ही भाव रहता है. ऐसी स्थितिमें परम्परागत रूपसे मन्त्रदीक्षा प्रदान करनेवाले गुरुजन — लापरवाह होकर, अज्ञानतावश अथवा खुदके चेले बढानेके चक्करमें पात्र-अपात्रका विचार किये बिना — यदि हर किसीको दीक्षा प्रदान करने लगते हैं तो उनका ऐसा आचरण मन्त्रदानकी परम्पराके आद्य स्थापक आचार्य, भगवान् अथवा शास्त्रकारों द्वारा स्थापित मर्यादासे विरुद्ध ही माना जायेगा. और इस विरुद्धाचरणके अपराधका दण्ड भी उनको भुगतना ही पड़ेगा.

३. देयवस्तु:

दान की जाती वस्तुको 'देयवस्तु' कहा जाता है. दीक्षामें गुरुद्वारा शिष्यको मन्त्रका दान किया जाता है. अतः मन्त्रके स्वरूपका विचार करना भी आवश्यक बन जाता है.

दीक्षामन्त्रमें आते इष्टदेवके नामको 'मन्त्रभाग' कहा जाता है. अवशिष्ट अंशको 'उपदेश' कहा जाता है. अन्जाने मार्गसे यात्रा करनेवाले यात्रीकेलिये जितना जरुरी नक्शा होता है उतना ही आवश्यक साधककेलिये दीक्षामन्त्र होता है. नक्शेके द्वारा यात्री अपने लक्ष्य, लक्ष्य तक पहुंचनेका मार्ग और अभी तक उसने कितना फाँसला तय किया है इन बातोंको देख और जान सकता है. दीक्षामन्त्रका अर्थानुसन्धानपूर्वक नित्य जप एवं स्मरण करके एक साधक भी इन सब लाभोंको प्राप्त कर सकता है. अतएव, धर्मसाधनामें परायण साधककेलिये दीक्षामन्त्रकी उपादेयता असाधारण होती है. दीक्षामन्त्रकी कुछ प्रमुख उपादेयताओंकी गणना हम कर सकते हैं. दीक्षामन्त्र साधकको :—

(१) इष्टदेवके तथा अपने स्वरूपका ज्ञान करवाता है.

(२) इष्टदेवका स्मरण करवाता है.

(३) अपने कर्तव्योंका ज्ञान करवाता है.

(४) अपने लक्ष्यका ज्ञान करवाता है.

(५) लक्ष्यको प्राप्त करनेका उपाय दिखलाता है.

(६) उसकी साधना कहां तक पहुंची है उसका बोध कराता है.

इन बातोंको जान लेने पर हम इस तथ्यको समझ सकते हैं कि दीक्षामन्त्रका अर्थज्ञान न रखनेवाले तथा उसका निरन्तर स्मरण न करनेवाले शिष्य भी उसी तरह मार्गभ्रष्ट हो सकते हैं कि जिस तरह अन्जान मार्ग पर यात्रा करनेवाले यात्री नक्शा खो जाने पर अथवा नक्शेको देखना भूल जाने पर मार्गभ्रष्ट हो जाया करते हैं. अतएव, दीक्षामन्त्रका परिपूर्ण ज्ञान और नित्यस्मरण प्रत्येक दीक्षित-अनुयायीकेलिये अनिवार्य कर्तव्यरूप होता है.

मन्त्रकी गोपनीयता :

दीक्षामन्त्रको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये ऐसा शास्त्रका नियम है. अतएव, विशेष करके अदीक्षित (जिसको दीक्षा प्राप्त हुयी न हो वैसे) परिचितोंको तो दीक्षामन्त्रका ज्ञान कदापि नहीं होने देना चाहिये. यही कारण है कि दीक्षामन्त्रका सार्वजनिकरूपसे उच्चार करना, उसे छापना या लिखना, ओडियो-वीडियो जैसे यान्त्रिक साधनोंमें संगृहीत करना आदिका कडा निषेध किया जाता है. दीक्षामन्त्र तो गुरुके मुखसे सीध शिष्यके कानोंमें ही जाना चाहिये. इसके अतिरिक्त दीक्षामन्त्रका उद्घाटन कथमपि नहीं होना चाहिये. दीक्षामन्त्रकी गरिमा तथा पवित्रता की रक्षार्थ ही इस प्रकारके नियमोंका प्रावधान सम्प्रदायके ग्रन्थों तथा परम्परा में देखा जाता है. हमारी लौकिक परम्पराओंमें भी हम देख सकते हैं कि राष्ट्रगीतको कब कैसे कहां किस मुद्रामें खडे होकर गाया जाना चाहिये अथवा नहीं गाना चाहिये इस विषयमें

सभी राष्ट्रके संविधानमें विधि-निषेधोंका प्रावधान होता ही है. और इन विधि-निषेधोंकी अवहेलना करके यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रगीतका अपमान हो उस प्रकार उसका उच्चारण करता है तो उसके ऐसे कृत्यको राष्ट्रका अपराध मानकर उसे दण्डित भी किया जाता है. इन विधि-निषेधोंके प्रावधानका कारण भी वही होता है जो कि दीक्षामन्त्रके विधि-निषेधोंका होता है : दीक्षामन्त्रकी गरिमा और पवित्रताकी रक्षा.

४. दीक्षास्थान :

दीक्षाका प्रसंग गुरु तथा शिष्य दोनोंकेलिये अत्यन्त ही पवित्र होता है. ऐसे पवित्र प्रसंगको सम्पन्न करनेकेलिये अपेक्षित स्थानका भी प्रसंगानुरूप पवित्र होना आवश्यक है. अतएव, जहां जानेसे मनमें शान्ति पवित्रता और श्रद्धाभाव की स्फूर्ति होती हो उसी स्थानको दीक्षाकेलिये सर्वाधिक उपयुक्त स्थान माना जाना चाहिये. विवाह पधरावनी आदि प्रसंगोंके भीड़-भड़क्के, शोर-शराबे या धक्का-मुक्की के बीच अथवा चलते फिरते या चाहे जैसे स्थानोंमें दीक्षा प्रदान करना योग्य नहीं है. ऐसा करनेसे दीक्षाकी पवित्रता और गौरव क्षतिग्रस्त हो जाते हैं. अयोग्य परिस्थिति अथवा स्थान में दीक्षा लेनेवालोंको खुदने कुछ उत्तम वस्तु प्राप्त की है ऐसी अनुभूति भी जब नहीं हो पाती है तब दीक्षाके रहस्यको अथवा दीक्षोपरान्त जिनका पालन करना होता है उन कर्तव्योंको समझनेकी उत्कण्ठा उनके मनमें जागृत हो ऐसी अपेक्षा उनसे कैसे की जा सकती है? यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्रोंमें अयोग्य परिस्थिति तथा स्थान में दीक्षाका आदान-प्रदान सर्वथा अनुचित माना गया है. देवमन्दिरमें तीर्थस्थानोंमें आचार्यमठोंमें भक्तजनोंकी या गुरुजनोंकी उपस्थिति में दीक्षादानकी जो परम्परा हमें कई जगह देखने-सुननेको मिलती है वह उक्त परिणामोंके कारण ही तो!

५. दीक्षाका समय :

शिष्यको सम्प्रदायकी साधना प्रारम्भ करने योग्य शुद्ध-पवित्र

मान्यताप्राप्त और कृतसंकल्प बनाना यह दीक्षाके प्रमुखतम प्रयोजन होते हैं. अतएव, शिष्य जिस समय सम्प्रदायकी साधना प्रारम्भ करनेकेलिये पूर्णरूपसे तैयार हो जाये उसी समयको दीक्षा देनेकेलिये सर्वाधिक योग्य समय माना जाना चाहिये. हम देखते हैं कि विद्यार्थी बालकको भी तो विद्यालयमें तभी प्रवेश (ॲडमिशन) दिया / दिलाया जाता है कि जब वह विद्यालयमें नियमितरूपसे उपस्थित रहकर विद्याभ्यास करने योग्य हो जाता है!

उचित समयसे पूर्व दीक्षाका दान गुरु शिष्य तथा सम्प्रदाय तीनोंकेलिये विपत्तिका कारण बन सकता है. मिट्टीके पात्रमें पानी भरा जा सकता है. पात्र, परन्तु, पक्का होना चाहिये. भूलसे भी यदि मिट्टीके कच्चे पात्रमें पानी भर दिया जाय तो पानी तो वैसे पात्रमेंसे रिसकर बाहर निकल ही जाता है, साथ ही साथ पात्रके भी, कच्चे होनेके कारण, टूट-फूट जानेकी पूरी सम्भावना रहती है. इसी प्रकार, पात्र यदि छोटा होगा और पानी उसकी तुलनामें अधिक होगा तब भी पानी पात्रमेंसे बाहर हो जायेगा. इन दृष्टान्तोंसे गुरुको सीख लेनी चाहिये. हो सकता है कि किसी व्यक्तिको मार्गमें रुचि हो तथा दीक्षा प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा भी हो. उसकी अवस्था, परन्तु, दीक्षा लेने योग्य न हो — अर्थात्; मानसिक, शारीरिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक आदि प्रतिकूलताओंके कारण किं वा प्रतिकूलता न होने पर भी खुदमें ही तत्परताका अभाव होनेके कारण दीक्षोपरान्त प्राप्त होते कर्तव्योंका पालन करनेकेलिये यदि वह तैयार न हो — तो ऐसे शिष्यको दीक्षा देने गुरुको न तो धांधली करनी चाहिये और न ही उदारता दिखानी चाहिये गुरु यदि इस महत्त्वपूर्ण बातकी उपेक्षा करता है तो मिट्टीके कच्चे पात्रमें पानी भरने पर जो दुरवस्था पात्रकी होती है वैसी ही दुरवस्था शिष्यकी भी हो ही सकती है. अतएव, समयसे पूर्व दीक्षाका दान अप्रासंगिक होनेसे निरर्थक तो ठहरता ही है, शिष्यको भी हानि उठानी पड़ सकती है. ऐसी दुर्घटनाएँ रोजबरोज

होते रहनेपर उसके दुष्परिणामसे गुरु और सम्प्रदाय भी कहां तक अस्पृष्ट रह सकते हैं!

अज्ञानी अवस्था अथवा अपरिपक्व आयु में जिनको दीक्षा दी / दिलवायी गयी हो और गुरुद्वारा उपेक्षित छोड़ दिये गये हों ऐसे कई तथाकथित अनुयायिओंको, झटसे बढती जाती मात्रामें, आज हम पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें देख सकते हैं कि जिनको खुदके सम्प्रदाय, सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य, इष्टदेव, स्वमार्गीय सिद्धान्त और दीक्षामन्त्र का भी ज्ञान नहीं होता है. और तो और, उनको खुदके दीक्षागुरुका नाम भी ज्ञात नहीं होता है. ऐसी स्थितिमें दीक्षोपरान्त जिन कर्तव्योंका पालन करना शिष्यकेलिये अनिवार्य होता है उनका पालन वे करते होंगे या करेंगे ऐसी अपेक्षा भी उनसे कैसे रखी जा सकती है? क्षणार्धकेलिये ऐसे लोगोंको यदि हम भूल भी जायें तो परिपक्व आयु और सभान अवस्थामें जिन्होंने दीक्षा प्राप्त की होती है ऐसे भी सब लोग कौनसा धर्मलाभ प्राप्त करते नजर आते हैं? उनमेंसे भी तो अधिकतर लोग पूर्वोक्त दुरवस्थामें पड़े हुवे दिखलाई देते हैं — वही मूढ अकर्मठ मार्गनिष्ठाविहीन भगवद्विमुख अन्याश्रयसभर असमर्पित जीवन. क्या ऐसा जीवन जीनेकेलिये जीवोंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेका आदेश प्रभुने श्रीआचार्यचरणको दिया होगा! कदापि नहीं.

दीक्षित लोगोंकी ऐसी दुरवस्था होनेका एक प्रमुख कारण अयोग्य समयमें उनको दीक्षा दिया जाना भी है ही. इन सब बातोंको लक्ष्यमें लेते हुवे गुरु और शिष्य दोनोंको यह समझना चाहिये कि अयोग्य समयमें यदि दीक्षा दी अथवा ली जाती है तो दीक्षाकी सफलता अनिश्चित बन जाती है. अतएव, कोई गुरु करुणावश होकर दीक्षा देनेकेलिये यदि तत्परता दिखाते भी हों तब भी हमें यदि ऐसा लगता है कि सम्प्रदायके कर्तव्योंका पालन करनेकेलिये आवश्यक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका ज्ञान हमें नहीं है अथवा ज्ञान होने पर भी सिद्धान्तोंके अनुसार (पुष्टिमार्गके सन्दर्भमें कहा जाये तो अन्याश्रयत्याग, भगवत्स्मरण-श्रवण-कीर्तन, सत्संग,

अनन्याश्रय, प्रभुसेवा, असमर्पितत्याग आदिका) आचरण करने योग्य अनुकूलता या तत्परता नहीं है तो ऐसी स्थितिमें दीक्षा ग्रहण करनेकी उत्सुकता या लोलुपता हमें नहीं दिखानी चाहिये. अन्यथा वह हमारी अनधिकारचेष्टा होगी.

किसी भी सम्प्रदायमें प्रवेश पानेकेलिये इन तीन शर्तोंका पालन करना जरूरी होता है—

(१) दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये.

(२) सम्प्रदाविपरीत आचरणका त्याग (= निषिद्धाचरणका त्याग) करना चाहिये.

(३) सम्प्रदायानुसारी आचरण (= विहिताचरण) होना चाहिये.

पर अपने यहां देखा जाता है कि अधिकतर लोग केवल दीक्षा लेकर ही अपने आपको कृतकृत्य मान लेते हैं. सम्प्रदायविपरीत आचरणके त्याग और सम्प्रदायानुसारी आचरण का तो उनके मनमें कभी कोई खयाल भी नहीं आता है. सिद्धान्तदृष्टिसे यदि देखा जाये तो ऐसे निष्ठाविहीन लोगोंका तो दीक्षा ले लेने पर भी सम्प्रदायमें प्रवेश हुवा माना ही नहीं जा सकता है. क्योंकि कर्तव्यपालनविहीन दीक्षा तो दीक्षा ही नहीं कहलाती है.

आरम्भमें यह तो हम समझ ही चुके हैं कि शिष्यको सम्प्रदायकी साधनाका आरम्भ करने योग्य पवित्र, मान्यताप्राप्त और कृतसंकल्प बनाना यह दीक्षाका प्रमुखतम प्रयोजन होता है. अब जिन लोगोंके मनमें साधनाको आरम्भ करनेका विचार आना तो बहोत दूरकी बात रही; साधनाके विषयमें थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त करनेका विचार तक न आता हो, फिर भी दीक्षा ले बैठे हों, क्या उनकी दीक्षा सम्पन्न हुयी मानी जा सकती है? वे लोग यदि दीक्षा ग्रहण न भी करते तो क्या फर्क पड़नेवाला था! क्योंकि निषिद्धाचरणके त्याग तथा विहिताचरणसे रहित केवल दीक्षाका लेशमात्र भी महत्त्व सिद्धान्तदृष्टिसे किसी भी सम्प्रदायमें होता नहीं है. कर्तव्यपालनमें निष्ठाविहीन दीक्षार्थिओंकी तुलना हम टिकट खरीदनेके शौकीन उन लोगोंके साथ कर सकते हैं कि जो यात्रा तो नहीं करना चाहते पर टिकट जरूर खरीद

लेते हैं. ऐसे दीक्षार्थिओंकी क्या गति होती है? वही जो किसी टिकटधारकके रेलगाडी चलपड़ने तक भी रेलगाडीमें सवार नहीं होनेपर होती है— उसकेलिये आरक्षित बैठक रेलगाडीमें सवार अन्य यात्रीको दे दी जाती है और वह वहींका वहीं रह जाता है. ऐसी स्थितिमें, उसकेद्वारा खरीदा गया टिकट कागजका एक रद्दी टुकड़ा मात्र रह जाता है. इसी प्रकार; जो दीक्षार्थी कर्तव्यका पालन तो नहीं करना चाहते पर दीक्षा जरूर ले लेते हैं उन निष्ठाविहीन तथाकथित दीक्षित लोगोंको दीक्षा कहीं भी पहुंचा सकनेमें समर्थ नहीं बन सकती है. एक और दृष्टन्तसे समझा जाये तो विद्यालयमें प्रवेश (अॅडमिशन) पाकर भी जो विद्यार्थी नियमितरूपसे लंबे अरसे तक विद्यालयमें अनुपस्थित रहता हो उसका नाम विद्यालयके रजिस्टरमेंसे निकाल दिया जाता है. उसकी नियत अनुपस्थिति इस बातका संकेत है कि वह अध्ययन करनेमें रुचि नहीं रखता है. इसी प्रकार; दीक्षा ग्रहण कर लेने पर भी जो दीक्षित-अनुयायी सम्प्रदायके सिद्धान्तानुसार आचरण करनेका प्रयत्न नहीं करता है उसके ऐसे व्यवहारसे यह सिद्ध होता है कि उसकी निष्ठा सम्प्रदायमें नहीं है. अब ऐसा दीक्षार्थी यदि दीक्षा लेता भी है तो दीक्षाका उसको क्या लाभ मिल सकता है, और यदि दीक्षा नहीं लेता है तो भी उसको क्या हानि हो सकती है! जैसे बालम घर भले तैसे भले विदेश जैसी दयनीय स्थिति ही तो है!

इन सबका सार यही है कि जिस दीक्षाके साथ कर्तव्यका पालन जुड़ता नहीं है वैसी दीक्षाका लेना और देना दोनों ही कृत्य निष्प्रयोजन और निष्फल ही हैं. अतएव, यह सिद्ध होता है कि दीक्षार्थी जब तक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके अनुसार अपने कर्तव्योंका पालन करनेकेलिये पूर्णरूपसे तैयार नहीं हो जाता है तब तक उसको दीक्षा प्रदान नहीं ही करनी चाहिये. इस सिद्धान्तको समझानेवाली एक सुन्दर घटना "चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता"में वर्णित है.

श्रीनरहरदासका जन्म एक ब्राह्मण परिवारमें हुवा था.

उनको बाल्यावस्थासे ही पुरीनगरस्थ श्रीजगन्नाथरायजी (श्रीकृष्ण)के प्रति बड़ा ही श्रद्धा-भक्तिभाव था. पिता अब वृध्ध हो चले थे. एक दिन पिताने क्रोधावेशमें श्रीनरहरदासको पैसा कमानेकेलिये कुछ उद्योग करने अर्थ कहा: "आये दिन तु श्रीजगन्नाथरायजीके दर्शनार्थ पुरी जाता रहता है, तो वे क्या तुझे कुछ देते हैं? दर्शनार्थ जाने-आनेकेलिये खर्चके पैसे भी तो मैं ही तुझे दिया करता हुं! मेरी कमाईसे ही तो तू अपना पेट पालता है! यदि मैं तुझको खानेकेलिये कुछ न दूँ तो तू भूखा ही मर जायेगा. क्या तेरे जगन्नाथरायजी पालेंगे तुझे एक दिन भी!" आदि. भगवान्‌की ऐसी निन्दा पिताके मुखसे सुनकर श्रीनरहरदासने पिताके घरका त्याग किया. मनमें संकल्प किया: "अब तो श्रीजगन्नाथरायजी जब देंगे तब ही खाउंगा; पिताको श्रीजगन्नाथरायजीका सामर्थ्य दिखा दूंगा". ऐसेमें श्रीजगन्नाथरायजीकी कृपासे उनको श्रीमहाप्रभुजीके दर्शन हो गये. उन्होंने श्रीमहाप्रभुजीसे विनती की: "महाप्रभु! मुझे आपका शिष्य बनाओ". श्रीनरहरदासका मन अशान्त जानकर आपने आज्ञा की— "नरहरदास! अभी तुम्हारा मन पैसेमें लगा हुवा है, अशान्त है. अतएव, तुमको भगवन्नाम (= दीक्षामन्त्र) फलित नहीं होगा. अपने मनको स्वस्थ बनाकर हमारे पास आना. तब तुमको शिष्य बनायेंगे."

दीक्षार्थीको दीक्षा देनेका योग्य समय वही होता है जब वह मार्गके सिद्धान्तोंको समझकर अपने कर्तव्यका पालन करनेकेलिये तैयार हो जाता है. इस सिद्धान्तका समर्थन श्रीमहाप्रभुके उपरोक्त वचनोंद्वारा निर्विवादरूपसे हो जाता है.

६. उपक्रम तथा भावना:

दीक्षाका प्रसंग गुरु तथा शिष्य दोनोंकेलिये एक दिव्य पवित्र प्रसंग होता है. दीक्षाविधिके पश्चात् गुरु तथा शिष्य के एक नये ही सहजीवनका आरम्भ होता है. अभी तक तो वे सामान्यरूपसे परिचित दो मनुष्य थे. पर अब दीक्षाविधिके पश्चात् एक धर्ममार्गका पुरोगामी (= आगे चलनेवाला,

मार्गदर्शक) गुरु बन जाता है जब कि दूसरा धर्ममार्गका अनुगामी (= पीछे चलनेवाला) शिष्य बन जाता है. दीक्षाविधिके उपरान्त दोनोंका एक-दूसरेके प्रति उत्तरदायित्व अत्यधिक बढ़ जाता है.

हमारा प्रथम जन्म माता-पिताद्वारा सन्तानके रूपमें होता है, वंश विस्तारकेलिये. और दूसरा नूतन जन्म दीक्षाद्वारा दीक्षार्थी-शिष्यके रूपमें होता है, धर्ममार्ग पर चलनेकेलिये. यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्रमें गुरुको पितातुल्य माननेकेलिये कहा गया है. पिता जिस प्रकार अपने बालकके पालन-पोषण-रक्षण तथा विकासका कार्य अपना उत्तरदायित्व समझकर स्नेहभावसे करता है उसी प्रकार गुरुको भी खुदके शिष्यका **पालन-पोषण** उसे धर्मसिद्धान्तोंकी समझ देकर, **रक्षण** उसको अधर्मसे दूर रहनेकी चेतावनी देकर और **विकास** उसको धर्ममार्गके ऊपर चलते रहनेकी प्रेरणा सतत देते रहकर करना होता है. यहां अवधेय है कि ऐसा पवित्र सम्बन्ध जिस दीक्षाविधिसे स्थापित होता है उस दीक्षाविधिको सम्पन्न करनेकी प्रक्रिया(= उपक्रम) और उसके पीछे गुरु-शिष्यकी भावना का भी अत्यन्त शुद्ध तथा पवित्र होना ही चाहिये! "दोसौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता"में इस सिद्धान्तको समझाती हुयी एक रोचक घटना इस प्रकार वर्णित है—

एक दिन श्रीगुसांईजीने प्रवचनमें कहा कि यदि शुद्ध मनसे शिष्यद्वारा दीक्षा ली जाती है और शुद्ध मनसे ही यदि शिष्यको गुरुद्वारा दीक्षा दी जाती है तो श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे प्रभुमें दृढ आश्रय सिद्ध होता है तथा पुष्टिमार्गीय फल प्राप्त होता है. आपकी यह आज्ञा एक क्षत्रिय वैष्णवके हृदयमें बस गई. श्रीगुसांईजी जब एकान्तमें बिराज रहे थे तब उसने श्रीगुसांईजीसे स्वयंको आत्मनिवेदनदीक्षा प्रदान करनेकेलिये प्रार्थना की. श्रीगुसांईजीने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीगिरिधरजीको बुलवाया और उस वैष्णवको दीक्षा देनेकी उन्हें आज्ञा की. दूसरे दिन दीक्षोपरान्त श्रीगिरिधरजी उस क्षत्रिय वैष्णवको लेकर श्रीगुसांईजी सम्मुख जब पधारे तब दिव्यदृष्टिसे वैष्णवकी ओर देखनेपर श्रीगुसांइजीको प्रतीत हुवा

कि आत्मनिवेदन शुद्धतासे नहीं हुवा है. वैष्णवको पुनः उपवास कराकर शुद्ध मनसे पुनः दीक्षा देनेकी आज्ञा आपने श्रीगिरिधरजीको की. श्रीगिरिधरजीने उसी प्रकार किया. दूसरे दिन जब आप वैष्णवको लेकर पुनः श्रीगुसांईजी सम्मुख पधारे तब श्रीगुसांईजीने पुनः कहा कि आत्मनिवेदन शुद्धतासे हुवा नहीं है. इस समय विशेष आज्ञा करते हुवे आपने श्रीगिरिधरजीसे कहा कि एक उपवास श्रीगिरिधरजी स्वयं करें और एक वह वैष्णव भी करे तत्पश्चात् पुनः दीक्षा दी जाये. आज्ञाका पालन किया गया. गुरु-शिष्य दोनों पुनः श्रीगुसांईजी सम्मुख उपस्थित हुवे. आपने पुनः कहा कि अभी भी वैष्णवका मन शुद्ध नहीं हुवा है. अतः पुनः उपवास कराकर दीक्षा दी जाये. आज्ञाका पालन पुनः किया गया. इस बार वैष्णवका मन अलौकिक होकर प्रभुमें लग गया!

इस प्रसंगसे हम यह समझ सकते हैं कि दाता (गुरु) और प्रतिग्रहीता (शिष्य) दोनोंका मन दीक्षाविधिकेलिये सम्पूर्णरूपसे शुद्ध होना जरूरी होता है. गुरुको चाहिये कि वो अपने मनमेंसे लालच, काम, कपट, अभिमान, स्पर्धा, पाखण्ड जैसे दुर्भावोंको निकालकर शिष्यके आत्मकल्याणकी शुद्ध-पवित्र भावना रखते हुवे विनम्रता तथा श्रद्धापूर्वक दीक्षा प्रदान करे. उसी प्रकार शिष्य भी मनमें ऐसा शुद्ध और पवित्र भाव रखते हुवे दीक्षा ग्रहण करे कि सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन जीकर वह कृतार्थ होगा.

सम्प्रदायोमें दीक्षाप्रणाली क्यों?

सम्प्रदायोमें दीक्षाप्रणाली व्यवस्थित करनेके पीछे सामान्यतया ये चार प्रयोजन सोचे जा सकते हैं:—

(१) संकल्प (२) मान्यता (३) योग्यता (४) पवित्रता.

१. संकल्प:

किसी भी कार्यकी सफलता/असफलताका बहोत बड़ा आधार हमारे संकल्पके ऊपर भी रहता ही है. दृढ़ संकल्पके

साथ आरम्भ किये गये कार्यके सफल होनेकी सम्भावना उन कार्योंकी तुलनामें अधिक रहती है कि जिन कार्योंके विषयमें कर्ताका संकल्प दृढ़ नहीं होता है. और संकल्प भी जब किसी आदरणीय या पूजनीय व्यक्तिके सम्मुख किया जाता है तब तो संकल्पकर्ताके मनकी दृढ़ता कई गुनी बढ़ जाती है. कई बार तो कार्यके विषयमें संकल्प होते ही उसे आधा सफल हुवा मान लिया जाता है. इतना असाधारण माहात्म्य संकल्पका होता है. यहां, परन्तु, एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जो कार्य हमें करना हो उसकी पूरी समझ, परिस्थिति, खुदकी शक्ति आदि बातोंका योग्य विचार करनेके पश्चात् यदि संकल्प किया जाता है तो ही संकल्प सफल हो पाता है. अन्यथा, संकल्प कोई अल्लाउद्दीनके चिराग अथवा चिन्तामणि की तरह नहीं होता है कि जिससे अनायास ही सफलता हाथ लग जाये.

दीक्षा एक प्रकारका संकल्प ही होती है, गुरुको साक्षी बनाकर भगवान्के समक्ष की गयी प्रतिज्ञा होती है. अतएव, पाखण्ड किये बिना सच्चे हृदयसे योग्य प्रक्रियासे शिष्य यदि दीक्षा ग्रहण करता है तो वह निश्चितरूपसे अपना कल्याण कर सकता है.

२. मान्यता:

किसी भी संस्थाकी स्थापना एक निश्चित उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर की जाती है. अपने उद्देश्यको पूर्ण करनेकेलिये संस्थाके स्थापकगण विशिष्ट कार्यप्रणाली और उस कार्यप्रणालीको अपने सदस्योंके ऊपर लागु करनेकेलिये संविधान (ऐसे करना, ऐसे नहीं करना जैसे विधि-निषेधों) की भी संरचना करते ही हैं. ऐसी सुस्थापित संस्थामें यदि किसीको प्रवेश पाना हो तो उसकेलिये भी निश्चित विधि होती है. इस विधिके अन्तर्गत संस्थाके वरिष्ठ लोगोंद्वारा आगन्तुक व्यक्तिकी योग्यताका परीक्षण किया जाता है. तदनन्तर व्यक्तिको संस्थाके हेतु, कार्यप्रणाली और संविधान का पूर्णरूपसे शपथपूर्वक स्वीकार

करना होता है. इतना सब हो जाने पर व्यक्तिको सम्प्रदायके सदस्यके रूपमें मान्यता प्राप्त होती है. संस्थाके द्वारा मान्यताप्राप्त सदस्योंको संस्थाद्वारा अनेक प्रकारकी सुविधा, रियायत, संरक्षण, अधिकार जैसे लाभ प्राप्त हुवा करते हैं. इस प्रकारके लाभ जो लोग संस्थाके सदस्य नहीं होते उन्हें नहीं मिला करते हैं.

सम्प्रदाय भी एक प्रकारकी धार्मिक संस्था होती है. योग्य परन्तु अबुध लोगोंको धर्मका मार्ग दिखाकर उनका कल्याण करना ऐसा आध्यात्मिक उद्देश्य सम्प्रदायका होता है. अपने इस आध्यात्मिक उद्देश्यको पूरा करनेकेलिये सभी सम्प्रदाय अपने अनुयायिओंको (भक्ति-तप-कर्म-ज्ञान जैसी) विशिष्ट साधनापद्धतिका उपदेश किया करते हैं. साधकका जीवन सामान्यलोगोंके जैसा नहीं होना चाहिये, उसका जीवन तो खुदके उद्देश्यके अनुरूप आध्यात्मिक होना चाहिये. साधकको अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेकेलिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इस विषयका निरूपण सम्प्रदायके प्रवर्तकद्वारा सिद्धान्तोपदेशग्रन्थोंमें किया जाता है. ऐसे किसीभी सम्प्रदायमें यदि हमें प्रवेश प्राप्त करना हो तो हमें उस सम्प्रदायके आचार्यद्वारा सम्प्रदायके अनुयायीके रूपमें मान्यता प्राप्त करनी पड़ती है. सम्प्रदायके अनुयायीके रूपमें मान्यता प्राप्त करनेकेलिये इन तीन विषयोंमें दीक्षार्थीकी स्वीकृति आवश्यक होती है.

(१) सम्प्रदाय जिस लक्ष्य / फलका निर्देश करता हो उस लक्ष्य / फल (यथा मोक्ष भक्ति आदि)में साधक(अनुयायी / शिष्य)को रुचि होनी चाहिये.

(२) लक्ष्य / फलकी प्राप्तिकेलिये सम्प्रदायमें जिस साधना (यथा जप-तप-योग-कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि)का उपदेश दिया गया हो उस साधनाका यथावत् अर्थात् किसी भी प्रकारके परिवर्तन या परिवर्धन के बिना पूर्णरूपसे अनुसरण करनेकी तैयारी दीक्षार्थीकी होनी चाहिये.

(३) साधनाकी मौलिकता एवं शुद्धताकेलिये जो सिद्धान्त पूर्वाचार्योंद्वारा स्थापित किये गये हों उन सिद्धान्तोंमें पूर्ण

श्रद्धा-निष्ठा रखते हुवे उनके अनुसार ही अपना जीवन जीनेकी तैयारी दीक्षार्थीकी होनी चाहिये.

उक्त विषयोंमें स्वीकृति मिलने पर दीक्षा प्राप्त होती है. दीक्षा प्राप्त होने पर व्यक्ति सम्प्रदायका मान्यताप्राप्त सदस्य बन जाता है.

दीक्षाद्वारा मान्यता प्राप्त होनेपर दीक्षित व्यक्तिको अनेकविध लाभ सम्प्रदायमें मिल सकते हैं. इस बातको हम एक दृष्टान्तद्वारा समझ सकते हैं.

सभी देशोंमें सामान्यतया दो प्रकारके लोग बसा करते हैं. एक तो ऐसे कि जिनको उस देशके नागरिक होनेका संवैधानिक प्रमाणपत्र (रेशनकार्ड, जन्मका प्रमाणपत्र, परिचयपत्र आदि) प्राप्त हो. और दूसरे ऐसे कि जो उस देशके मूल निवासी न हों पर पास-पडोस अथवा सुदूर के देशोंमेंसे आकर उस देशमें बस गये हों. इस प्रकारके घुसपैठिये लोगोंके पास उस देशकी नागरिकताका कोई ठोस प्रमाण होता नहीं है. और यही कारण है कि ऐसे घुसपैठिये लोगोंको वे लाभ नहीं मिल पाते हैं कि जो उस देशके मान्यताप्राप्त नागरिकोंको मिला करते हैं. देशके मान्यताप्राप्त नागरिकको मतदान, खुदके नाम पर कानूनन जमीन-मकान खरीदने-बेचने, उनको उत्तराधिकारियोंको देने आदिका अधिकार और इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकारके संवैधानिक लाभ प्राप्त होते हैं. देशका नागरिक समग्र राष्ट्रपरिवारका एक सदस्य गिना जाता है. और उसकी सुरक्षा और समृद्धि का उत्तरदायित्व समग्र राष्ट्रके ऊपर होता है. इसके विपरीत घुसपैठिये लोगोंको इनमेंसे कोई भी लाभ प्राप्त नहीं होते हैं. उन लोगोंके ऊपर कोई विश्वास भी नहीं करता है. संविधानकी दृष्टिमें वे अपराधी माने जाते हैं.

दीक्षाग्रहण करके जिसने सम्प्रदायमें प्रवेश किया है वह उस सम्प्रदायका मान्यताप्राप्त अनुयायी गिना जाता है. देशके एक नागरिकको जिस प्रकारके लाभ देशमें मिला करते हैं उसी प्रकार मान्यताप्राप्त दीक्षित अनुयायीको भी सम्प्रदायमें अनेक प्रकारके लाभ प्राप्त होते हैं. गुरु तथा

शिष्य वर्ग उसको अपने धार्मिक परिवारका एक सदस्य मानते हैं. परिवारका कोई सदस्य कभी कोई विपत्तिमें पड़ जाता है अथवा कभी असमर्थ या भयभीत हो जाता है तो परिवारजन जैसे उसकी सहायतार्थ दौड़े चले आते हैं उसी प्रकार सम्प्रदायमें दीक्षित अनुयायीको भी हर समय गुरु तथा संगी अनुयायिओं की सहायता मिलती रहती है.

३. पवित्रता :

किसी धार्मिक कार्यको यदि सम्पन्न करना हो तो उस कार्यके अनुरूप हमारा पवित्र होना आवश्यक होता है. यहां पवित्रता तथा स्वच्छता को अलग-अलग समझना चाहिये. यथा, शरीरको अच्छी तरह मलकर, सिर भिगोकर स्नान करनेवाला स्वच्छ जरूर हो सकता है परन्तु भगवत्सेवा करनेकेलिये वह तब तक पवित्र नहीं बन सकता है जब तक वह शुद्ध मनसे प्रभुका ध्यान धरके भगवच्चरणामृत लेकर ललाटके ऊपर तिलक नहीं लगा लेता है. सामान्य व्यवहारमें जिसको स्वच्छ समझा जाता है उसका पवित्र भी होना जरूरी नहीं होता है. पवित्रताके नियमोंका वर्णन हमारे धर्मशास्त्रमें होता है. तदनुसार आचरण किया जाता है तब पवित्रता होती है.

पवित्रता दो प्रकारकी होती है :—

(१) आन्तर

(२) बाह्य

(१) आन्तरपवित्रता :

प्रभुनाम-लीला-स्वरूप-गुणोंके श्रवण-स्मरण-कीर्तन, उपवास, प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप, शुभ संकल्प आदिके द्वारा आन्तरपवित्रता प्राप्त होती है.

(२) बाह्यपवित्रता :

शास्त्रीय विधिपूर्वक स्नान, मार्जन (मन्त्रोच्चारपूर्वक पानीके छींटे अपने ऊपर डालना) आदि द्वारा बाह्यपवित्रता प्राप्त होती है.

मन्त्रदीक्षाद्वारा शिष्य इन दोनों प्रकारकी पवित्रताको प्राप्त कर लेता है :

— दीक्षा ग्रहण करने जैसे पवित्रकार्यकेलिये किये गये स्नानसे हमारा देह बाह्यरूपसे पवित्र होता है.

— श्रद्धापूर्वक किये गये उपवाससे हमारा देह आन्तररूपसे पवित्र होता है.

— "इतने समय तक मैं इतनी (दीक्षा जैसी) उत्तम वस्तुसे वञ्चित रहा!" इस प्रकारके पश्चात्तापसे दीक्षार्थीका मन निर्मल बन जाता है.

— स्वधर्मका पालन करनेके संकल्पके रूपमें शिष्य दीक्षा ग्रहण करता है. स्नान उपवास तथा पश्चात्तापसे निर्मल हुवे दीक्षार्थीके तन-मन स्वधर्मपालनके शुभ संकल्पसे मन्त्रको ग्रहण करने योग्य बन जाते हैं.

— गुरुके मुखसे सुना गया तथा स्वमुखसे उच्चरित इष्टदेवका नाममन्त्र शिष्यको स्वधर्मपालन करनेकेलिये प्रेरित करता है.

४. योग्यता :

भगवानने जीवोंको अपनी इस लीलासृष्टिमें भिन्न-भिन्न स्वभावों तथा रुचि वाला बनाया है. साथ ही सभी दैवी जीवोंको अपने-अपने स्वभाव तथा रुचिके अनुसार श्रेयप्राप्तिका उपाय प्राप्त हो जाये तदर्थ भगवानने विभिन्न धर्ममार्गोंका प्रवर्तन भी किया / करवाया है. यथा, पुष्टिजीवोंकेलिये पुष्टिभक्तिमार्गका तथा मर्यादाजीवोंकेलिये शास्त्रीय कर्म-ज्ञान-उपासना मार्गोंका प्रवर्तन भगवानने किया / करवाया है.

आज्ञाकारी सेवक स्वामीके द्वारा निर्दिष्ट कार्यको अपना कर्तव्य समझकर करता है तथा कर्तव्यपालनमें ही अपना कल्याण भी समझता है. जीवोंका भी स्वरूप, तत्वदृष्टिसे यदि देखा जाये तो, भगवद्दासका ही है. अतएव, जीवोंको चाहिये कि वे अपने स्वभाव (बीजभाव, वरण आदि) तथा रुचि को परखें और फिर भगवानने उनकेलिये उनके स्वभाव-रुचिके अनुरूप जिस मार्गका प्रवर्तन किया हो उस मार्गमें प्रवेश करें. इसीमें जीवोंका कल्याण निहित है. ऐसा

न करके सभी जीव यदि किसी एक ही मार्गका अनुसरण करने लगते हैं अथवा कोई भी जीव किसी भी मार्गका या सभी मार्गोंका अनुसरण करने लग जाते हैं तो वे कभी भी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर पायेंगे. जीवोंकी ऐसी दुर्गति न हो, सभी जीव अपने-अपने स्वभाव / योग्यताके अनुरूप मार्गको प्राप्त होकर अपना कल्याण कर सकें इस उद्देश्यसे ही सभी धर्मसम्प्रदायोंमें दीक्षाप्रणालीकी व्यवस्था की जाती है.

दीक्षा किसी भी सम्प्रदायमें प्रवेशद्वारके समान होती है. दीक्षा देनेसे पूर्व गुरुको यह देखना होता है कि दीक्षार्थीका स्वभाव-रुचि (बीजभाव वरण) अपने सम्प्रदायके अनुरूप तो है! अर्थात् दीक्षार्थीकी योग्यताकी परख गुरुको करनी होती है. गुरु सम्प्रदायका द्वारपाल भी होता है. घरका द्वारपाल (चौकीदार) घरमें किसे आने देना अथवा किसे नहीं आने देना चाहिये इस बातकी सावधानी रखता है. घरमें प्रवेश चाहते सभी लोगोंसे वह उनके नाम-गाम-काम आदिकी पृच्छा करता है, उसकी सूचना गृहस्वामिको देकर प्रवेशकी अनुमति लेता है और अनुमति मिलनेके पश्चात् ही आगन्तुकको घरके अन्दर प्रवेश करने देता है. इसी प्रकार गुरुका भी यह कर्तव्य होता है कि वह सम्प्रदायमें प्रवेशकेलिये जो योग्य हों केवल उन्हींको प्रवेशकी अनुमति दे तथा अयोग्य लोगोंको सम्प्रदायमें घुसने न दे. मार्गके रक्षकके रूपमें गुरुका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम दीक्षार्थीकी योग्यताका परीक्षण करे तदनन्तर सम्प्रदायमें प्रवेश देनेकेलिये सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यने जो मान-दण्ड निर्धारित किये हों उनके ऊपर दीक्षार्थी खरा उतरता है कि नहीं यह देखे. और जब गुरुको यह निश्चय हो जाये कि दीक्षार्थी सम्प्रदायमें प्रवेश पानेकेलिये पूर्णरूपसे योग्य है तभी दीक्षा प्रदान करके उसको सम्प्रदायमें प्रवेश कराये. अयोग्यको दीक्षा देनेवाला गुरु खुद ही नष्ट हो जाता है ऐसा कहा गया है. अतएव, अयोग्यको तो गुरु कभा भी दीक्षा प्रदान न करें.

इस प्रकार दीक्षाव्याख्या, दीक्षादानके छह अंग तथा दीक्षाप्रयोजन इन तीन विषयोंका सामान्य सन्दर्भमें विचार समाप्त होता है. अब पुष्टिभक्तिसम्प्रदायके सन्दर्भमें दीक्षाका विचार आरम्भ होता है.

२. पुष्टिभक्तिमार्गीयदीक्षाका विचार

नाटकके रंगमंचके ऊपर कोई भी व्यक्ति निष्प्रयोजन नहीं होता है. वहां स्थित प्रत्येक कलाकारका कार्य नाटकके निर्देशकद्वारा पूर्वनिर्धारित ही होता है. जड़-जीवात्मक यह जगत्सृष्टि भी भगवानकी लीलाकेलिये एक रंगमंच जैसी ही है. इस लीलासृष्टिरूपी नाटकके रंगमंचपे स्थित प्रत्येक जीवके सृजनके पीछे भी भगवान्का कोइ न कोई लोकोत्तर प्रयोजन है ही. अनेक प्रकारके जीवोंके बीच इस सृष्टिमें कुछ पुष्टिजीवोंका भी सृजन भगवानने किया है. उन पुष्टिजीवोंकी उत्पत्तिके पीछे रहे हुवे भगवानके प्रयोजनको प्रकट करते हुवे 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद'ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं:

"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः"

भावार्थ: पुष्टिजीवोंकी उत्पत्ति प्रभुकी स्वरूपसेवार्थ हुई है.

इतना उत्तम प्रयोजन पुष्टिजीवोंकी उत्पत्तिके पीछे होने पर भी अपने अंशी-परमात्मासे व्युच्चरित (अलग) हो जानेसे तथा अविद्याजन्य अहन्ता-ममतात्मक संसार और अज्ञान में फंस जानेके कारण पुष्टिजीवोंको अंशी परमात्मा, परमात्माके साथके खुदके सनातन सम्बन्ध, खुदके स्वरूप तथा परमात्माके प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान विस्मृत हो गया. जिनको प्रभुने लीलासृष्टिमें अपनी स्वरूपसेवार्थ उत्पन्न किया था उनकी ऐसी दयनीय अवस्थाको देखकर प्रभुने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणको पुष्टिभक्तिका मार्ग प्रवर्तित करनेकी आज्ञा दी, ताकि पुष्टिजीव उनके वास्तविक कर्तव्य प्रभुसेवाको प्राप्त कर सकें. इसी पवित्र उद्देश्यको लेकर श्रीआचार्यचरणने पुष्टिभक्तिमार्गका प्रवर्तन किया और पुष्टिजीवोंको स्वकर्तव्यपरायण करनेकेलिये पुष्टिभक्तिमार्गमें दो प्रकारकी दीक्षाओंका व्यवस्थापन किया.

द्विविधदीक्षा :

शरणमन्त्रदीक्षा : पर्याप्त अज्ञान तथा अहन्ता-ममता के

कारण अनेकविध अयोग्यताओंसे भरे पड़े पुष्टिजीवोंको प्रभुसेवामें प्रवृत्त करनेसे पूर्व उनको भगवत्सेवा करने योग्य बनाना अत्यन्त आवश्यक था. इस योग्यताके रूपमें किसीभी पुष्टिजीवको भगवदाश्रय, अन्याश्रयत्याग, सर्वसमर्पण, असमर्पितत्याग, दुःसंगत्याग आदि पुष्टिभक्तिमार्गके आधारभूत सिद्धान्तोंका ज्ञान होना आवश्यक होता है. साथ ही साथ अपने मनको विवेक* धैर्य* और आश्रय* द्वारा सेवायोग्य बनाना एवं खुदके घर-परिवारमें भी प्रभुसेवायोग्य माहौल बनाना आवश्यक होता है. इन सब योग्यताओंको प्राप्त करनेकेलिये श्रीमहाप्रभुने पुष्टिभक्तिमार्गमें शरणमार्गको व्यवस्थित किया. हम यह भलीभांति जानते हैं कि उच्च शिक्षा पानेवालोंको पहले प्राथमिक / माध्यमिक विद्यालयमें अध्ययन कराकर उच्चशिक्षा पाने योग्य बनवाया जाता है. इसी तरह प्रभुसेवा करनेकेलिये इच्छुक जीवका अष्टाक्षरमहामन्त्रकी दीक्षाद्वारा सर्वप्रथम शरणमार्गमें प्रवेश होता है.

ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रदीक्षा : शरणमार्गके कर्तव्योंका पालन करते-करते शरणमार्गी जब प्रभुसेवा करनेकेलिये आवश्यक उक्त सभी योग्यताएं प्राप्त कर लेता है तब उसे भगवत्सेवा करनकी योग्यता / अधिकार ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रकी दीक्षाद्वारा प्रदान किया जाता है.

पुष्टिभक्तिमार्गके अन्तर्गत शरणमार्ग एवं समर्पणमार्ग इस प्रकार दो मार्ग हैं. अतएव, इन दो मार्गोंमें प्रवेश करानेकेलिये, यथाक्रम, शरणमन्त्र एवं ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र इस प्रकार दो दीक्षाएं दी जाती हैं. शरणदीक्षाको अष्टाक्षरदीक्षा, नामदीक्षा आदि नामोंसे भी सम्बोधित किया जाता है. इसी प्रकार, ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाको समर्पण, आत्मनिवेदन, नामनिवेदन दीक्षा आदि नामोंसे भी पहचाना जाता है.

जैसाकि हमने प्रथम प्रकरणमें देखा; किसी भी वस्तुका दान करते अथवा लेते समय दानके दाता-प्रतिग्रहीता आदि

*विवेक-धैर्य: देखो 'पुष्टिप्रवेश १-२' पृ. ४९.

*आश्रय: देखो 'पुष्टिप्रवेश १-२' पृ. ६५.

छह अंगोंका विचार कर लेना आवश्यक होता है. इसी शास्त्रीय परम्पराको लक्ष्यमें रखते हुवे सम्प्रदायके पूर्वाचार्योंने पुष्टिभक्तिमार्गीय दीक्षाओंके दानके सन्दर्भमें भी दानके पूर्वोक्त छह अंगोंका यथाविधि विचार करके अपना सुस्पष्ट निर्णय सिद्धान्तग्रन्थोंद्वारा दिया ही है. अतएव, अब पुष्टिमार्गीय दीक्षाओंके सन्दर्भमें दानके पूर्वोक्त छह अंगोंका यथाक्रम विचार आरम्भ किया जाता है.

साम्प्रदायिक दीक्षादानांगोंका विचार

१. पुष्टिभक्तिमार्गी दीक्षादाता :

पुष्टिभक्तिमार्गीय फलप्राप्तिकेलिये कैसे लक्षणोंवाले व्यक्तिको गुरु बनाना चाहिये इसका निरूपण श्रीआचार्यचरणने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'के सर्वनिर्णय प्रकरणमें इस प्रकार किया है :

कृष्णसेवापर वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्॥

भावार्थ: दीक्षादाता कृष्णसेवामें तत्पर होना चाहिये, दम्भ-काम-लोभ आदिसे तथा प्रतिष्ठा-धन आदिकी लालसासे मुक्त होना चाहिये, श्रीभागवतपुराणके सारतत्त्वको जाननेवाला होना चाहिये और वह पुरुष होना चाहिये. ये चार लक्षण जिस श्रीवल्लभवंशजमें विद्यमान हों, जिज्ञासु दीक्षार्थीको उसका गुरुरूपमें आदरके साथ सेवन करना चाहिये.

उपरोक्त श्लोकमें पुष्टिमार्गी दीक्षादातामें होने आवश्यक हों ऐसे चार लक्षणोंको गिनाया गया है. वे लक्षण संक्षेपमें इस प्रकार हैं :—

(१) कृष्णसेवापरायणता (२) दम्भादिरहितता
(३) श्रीभागवततत्त्वज्ञता (४) नरत्व.

१. कृष्णसेवापरायणता :

इस लक्षणको समझाते हुवे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं :

जो गुरु शिष्यको प्रभुसेवा करनेका उपदेश देता है वह खुद भी जब प्रभुसेवाको उत्तम जानता-मानता है तो वह खुद भी प्रभुसेवा क्यों नहीं करता है? अतएव, भगवत्सेवामें जो परायण हो उसीको गुरु बनाना चाहिये.

श्रीआचार्यचरणके आदेशका तात्पर्य यही है कि गुरु चाहे कितना भी उत्तम उपदेश अपने शिष्योंको क्यों न देता हो, जब तक वो खुद उन उपदेशोंको अपने जीवन-आचरणमें नहीं लाता है तब तक उसका प्रेरणादायक प्रभाव वह अपने शिष्योंके ऊपर नहीं डाल पाता है. सीधीसी बात है कि गुड़ खानेवालेके मुखसे गुड़के त्यागका उपदेश सुनकर कितने श्रोता गुड़ खाना छोड़ सकते हैं? अथवा प्रमादी व्यक्तिके मुखसे क्रियाशीलताका उपदेश सुनकर कितने लोग सक्रिय बन सकते हैं! ऐसी दुरवस्था खुदके उपदेशकी न हो उसकेलिये गुरुको चाहिये कि वह जो भी उपदेश अपने शिष्योंको दे उसे सर्वप्रथम अपने आचरणमें लाये. क्योंकि स्वयंद्वारा आचरण / अनुभवके बाद दिया गया उपदेश ही उत्तम उपदेश कहा जाता है. सार यह है कि पुष्टिभक्तिमार्गी गुरु खुदभी पुष्टिभक्तिमार्गकी साधना (स्वगृहमें भगवत्सेवा) में तत्पर होना ही चाहिये.

२. दम्भादिरहितता :

इस लक्षणका विवेचन करते हुवे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं :

गुरुकेलिये केवल भगवत्सेवापरायण होना ही पर्याप्त नहीं होता है. क्योंकि, भगवत्सेवापरायणता तो कोई व्यक्तिमें दिखावेके रूपमें अथवा पैसे या प्रतिष्ठा की लालचसे भी पायी जा सकती है. ऐसी सेवापरायणता तो पाखण्डजन्य भी हो सकती है. अतएव, सेवापरायण होनेके साथ-साथ गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना भी आवश्यक होता है. अन्यथा, गुरुमें रहे दम्भादि दुर्गुण उसके उपदेश आदिमें प्रविष्ट होकर शिष्यवर्गको भी

प्रभावित कर सकते हैं. और, गुरुकी सेवापरायणताके कारण प्रभावित होकर उसको गुरु बनानेके पश्चात् अधिक परिचय होने पर जब उसके द्वारा किये जाते धर्माचरणको झांकनेपे दम्भ लोभ आदि दीखनेमें आयें तब शिष्यका गुरुभाव खण्डित भी होकर अधःपतन भी हो सकता है.

३. भागवततत्त्वज्ञता :

इस लक्षणका विवेचन करते हुवे श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं :

भगवानने श्रीभागवतमें भक्तिमार्गका सम्पूर्ण रहस्य प्रतिपादित किया है. अतएव, भक्तिमार्गीय फल यदि प्राप्त करना हो तो भागवतादि भक्तिशास्त्रोंमें प्रदर्शित प्रकारसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. और मनमें काम-लोभ-लालच जैसे दुर्भावोंको रखकर अथवा अन्यान्य काल्पनिक प्रकारोंसे यदि भगवत्सेवा की जाती है तो वैसी सेवा सफल नहीं हो सकती है. अतएव, सेवाका तथा सेवामें समायी हुई अलौकिक भावनाओंका सच्चा स्वरूप जाननेकेलिये गुरुका श्रीभागवतके सार-तत्त्वका जानकार होना आवश्यक होता है.

४. नरत्व :

प्रभुचरण श्रीगुसांईजी 'श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र'में लिखते हैं :—

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता

भावार्थ: पुष्टिजीवोमें पुष्टिभक्तिका प्रचार भविष्यमें भी होता रहे तदर्थ श्रीमहाप्रभुजीने खुदका वंश प्रकट किया है.

श्रीगुसांईजीके यह कथन और गुरुके लक्षणके निरूपक श्रीमहाप्रभुजीके पूर्वोक्त कथन का यदि समन्वय किया जाय तो कृष्णसेवापरायण दम्भादिरहित तथा भागवततत्त्वज्ञ हों ऐसे श्रीमहाप्रभुके वंशज पुष्टिमार्गीय दीक्षा प्रदान करनेकेलिये योग्य गिने जा सकते हैं. यहां, किन्तु, एक विचारयोग्य प्रश्न

उपस्थित होता है कि वंशमें तो स्त्री तथा पुरुष (पुत्री-पुत्र) दोनों ही होते हैं. ऐसी स्थितिमें, दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार क्या श्रीवल्लभवंशज स्त्री तथा पुरुष दोनोंका मानना चाहिये? इस विषयमें सिद्धान्त यह है :

श्रीमहाप्रभुजीने गुरुके लक्षणमें 'नर'पदका प्रयोग किया है. अतएव, वल्लभवंशज तो यद्यपि स्त्री और पुरुष दोनों ही होते हैं तथापि, पुष्टिसम्प्रदायकी दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार तो केवल पुरुष वंशजका ही सिद्ध होता है, स्त्री वंशजों (पुत्री = बेटीजी) का अधिकार सिद्धान्ततः सिद्ध नहीं होता है. यहां, परन्तु, यह नहीं भूलना चाहिये कि पुरुष वंशजोंको भी दीक्षादानका अधिकार श्रीमहाप्रभूक्त गुरुके अन्य लक्षण उनमें होने पर ही प्राप्त होता है.

कैसे वल्लभवंशजको गुरु नहीं बनाना चाहिये?

बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जहां पर अधिकारकी प्राप्ति पराम्परगतरूपसे सुरक्षित होती है (यथा, राजाकी मृत्यु होने पर उसके कुमारको ही राजगद्दी मिलती है) वहां निश्चिन्तताके कारण योग्यताके विषयमें उत्तराधिकारिओंमें उदासीनता आ ही जाती है. इसके कारण उनको तथा उनसे सम्बन्धित लोगों को बड़े ही विपरीत परिणाम भुगतने पड़ते हैं. पुष्टिमार्गमें भी दीक्षादानका अधिकार श्रीमहाप्रभुके पुरुषवंशजोंकेलिये परम्परागतरूपसे सुरक्षित रखा गया है. वंशपरम्परागत गुरुपदाधिकारकी प्राप्ति कहीं उन योग्यताओंके प्रति उदासीनताका कारण न बन जाय कि जिनका एक पुष्टिभक्तिमार्गके गुरुमें होना अनिवार्य होता है. आचार्यचरणोंने बड़ी ही दीर्घदृष्टिका परिचय देते हुवे उन लक्षणोंको गुरु तथा शिष्य दोनोंके कल्याणार्थ अपने सिद्धान्तग्रन्थोंमें निरूपित कर दिया है. अतएव, सिद्धान्तदृष्टिसे तो जिस श्रीवल्लभवंशजमें महाप्रभूक्त गुरुके लक्षण नहीं होते हैं वह गुरुपदकेलिये अयोग्य माना जाता है. तथापि अत्यधिक श्रद्धाशील अनुयायी लोग गुरुमें अपेक्षित उन योग्यताओंकी उपेक्षा करके जब किसी अयोग्य वंशजको भी, यह मानकर कि आखिर

है तो वह श्रीवल्लभाचार्यका वंशज, गुरु बना लेते हैं तब फिर उसका जो भी परिणाम निकले उसके उत्तरदायी उनको ही मानना चाहीये. सिद्धान्त तो, क्योंकि, बहुत ही स्पष्ट है. (यद्यपि अब तो यह स्थिति भी नहीं रह गई है. क्योंकि अब तो सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध मन्दिरोंके मुखिया, दूर-सुदूरकी बैठकोंके मुखिया, भागवतकथासे आजीविका चलानेवाले शास्त्री, बहुतसे ढोंगी व्रजवासी तथा कंई कथित परम भगवदीय बापा-बापी भी अज्ञानी दीक्षार्थिओंको दीक्षा देने लगे हैं.) श्रीआचार्यचरणोंमें श्रद्धा रखनेवाले तथा अपना वास्तविक कल्याण चाहनेवाले लोगोंको चाहिये कि वे अयोग्य व्यक्तिसे दीक्षा ग्रहण न करें. दीक्षादाताके श्रीवल्लभवंशज होनेसे उसकी स्वरूपयोग्यता अवश्य सिद्ध होती है, परन्तु शिष्यको फलकी प्राप्ति करानेवाली—फलमुखयोग्यता तो श्रीवल्लभवंशजमें भी महाप्रभूक्त लक्षणोंके होने पर ही आती है. उसके न होनेपर श्रीवल्लभवंशज होने पर भी गुरुपदकेलिये तो वह अयोग्य ही माना जाता है.

यह तो हुई पुरुषवंशजोंकी चर्चा. अब थोड़ा विचार स्त्रीवंशजोंका कर लें. यह सहज सम्भव है कि श्रीमहाप्रभुके किसी स्त्रीवंशजमें नरत्वको छोड़कर बाकी सभी— सेवापरायणता दम्भादिरहितता और श्रीभागवततत्त्वज्ञता ये —गुरुके लक्षण हो. ऐसी स्थितिमें क्या उनसे दीक्षा ली जा सकती है? नहीं. क्योंकि उनमें श्रीमहाप्रभूक्त एक लक्षण नरत्वके नहीं होनेसे वे दीक्षा प्रदान करने योग्य नहीं माने जा सकते हैं. अतएव, सिद्धान्ततः श्रीवल्लभाचार्यके स्त्रीवंशजोंसे भी दीक्षा नहीं ली जा सकती है.

गुरुका त्याग कब?

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भावार्थः अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्ध हुई शिष्यकी बुद्धिरूपा आंखोंको ज्ञानरूपी अंजनशलाकासे खोलनेवाले गुरुको मेरे नमन हो.

मंगलाचरणके इस श्लोकसे यह तथ्य साफ-साफ उभरकर सामने आता है कि जिज्ञासु शिष्यकेलिये तो गुरुके रूपमें

आदर देने योग्य वही होता है कि जो उसका अज्ञान तथा अन्यथाज्ञान दूर करके उसको ज्ञान प्रदान करे. अतएव, यह बात भी स्पष्ट ही है कि दीक्षा दे देने मात्रसे किसीमें गुरुत्व नहीं आ जाता है. गुरुत्वकी प्राप्तिकेलिये शिष्यको ज्ञान प्रदान करना यह दीक्षादाताकेलिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता है. तैत्तिरीयउपनिषद्में कहा गया है कि आचार्य(= गुरु) तथा अन्तेवासी(=शिष्य) को परस्पर जोड़कर रखनेवाली—सन्धि **विद्या** होती है. विद्यारूपी यह सन्धि, आचार्यद्वारा शिष्यको विद्याध्ययन कराने पर ही स्थापित होती है. इस औपनिषदिक आदर्शको हृदगत करते हुवे पुष्टिसम्प्रदायके गुरुओंको (पूजारीपना छोड़कर) अपने शिष्योंको स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थोंका अध्यापन करवाना चाहिये. क्योंकि चिकित्सक जब रोगिओंकी चिकित्सा नहीं करता है, रक्षक जब पीड़ितोंकी रक्षा नहीं करता है, अध्यापक जब विद्यार्थिओंको अध्ययन नहीं कराता है, शासक(नेता) जब नागरिकोंके कार्य नहीं करता है; तब उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है. इसी प्रकार धर्मगुरु जब शिष्योंको धर्मज्ञान प्रदान नहीं करता है तब उसकी भी उपयोगिता-आवश्यकता समाप्त हो जाती है. चिकित्सा न करनेवाले चिकित्सकको न छोड़नेवाले लोग अकाल ही मृत्युका ग्रास बन जाया करते हैं. रक्षा करनेमें असमर्थ रक्षकके ऊपर भरोसा करनेवाले लोग अपना सर्वस्व खो सकते हैं. अध्ययन न करानेवाले अध्यापकको पकड़कर बैठे रहनेवाले विद्यार्थी अनपढ़-मूढ ही रह जाते हैं. जनताके कार्य न करनेवाले शासकको स्थानभ्रष्ट न करनेवाली जनता एक दिन बरबादीके कगार पर पहुंच सकती है. इसी प्रकार धर्मज्ञान न देनेवाले धर्मगुरुको पकड़े रहनेवाले अन्धश्रद्धालु शिष्य भी अपना अमूल्य मनुष्यजन्म व्यर्थ ही गंवा बैठते हैं.

अतएव, 'स्मृतिचन्द्रिका'में वशिष्ठ तथा यम ऋषिओं के वचनोंमें कहा गया है कि जो गुरु अपने शिष्यको अध्ययन नहीं कराता है वह सभी प्रकारके शास्त्रीय कर्मोंकेलिये अयोग्य गिना जाता है. और दीक्षा प्रदान करके एक

वर्ष बीत जानेपर भी जिस गुरुने अपने शिष्यका अध्ययन आरम्भ नहीं करवाया है उस गुरुको शिष्यके समस्त पापकर्मोंके दुष्फल भुगतने पड़ते हैं. अतएव, गौत्तमधर्मसूत्रमें लिखा है:

> जिससे दीक्षा ग्रहण की हो वह गुरु खुद कुछ जानता ही न हो, अर्थात् वह (१) अज्ञानी हो, अथवा जानता सब कुछ हो परन्तु (२)शिष्यको अध्ययन नहीं कराता हो, अथवा (३)पापकर्मरत हो, तो ऐसे गुरुका त्याग कर देना चाहिये.

गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें कितनी उदात्त और पवित्र भावना हमारे ऋषि-मुनिओंकी हुवा करती थी इस बातका प्रमाण यह वचन है. कितनी गम्भीरतापूर्वक दीक्षाप्रणालीको हमारी धर्मपरम्परामें लिया गया था. और आज हमने क्या स्थिति बना रखी है!

गुरुके अभावमें क्या करना चाहिये?

कल्पना करो कि श्रीमहाप्रभूक्त गुरुके लक्षणोंवाला एक भी श्रीवल्लभवंशज उपलब्ध नहीं है. और ऐसी परिस्थितिमें किसी भगवत्कृपापात्र जीवमें श्रीमहाप्रभुजीके मार्ग अनुसार प्रभुसेवा-स्मरणमय जीवन जीनेकी इच्छा जागृत होती है तब उसे क्या करना चाहिये? योग्य दीक्षादाता-गुरुके अभावमें क्या उसे भगवत्सेवासे वंचित रहना पड़ेगा? अथवा, यदि किसी शिष्यको पूर्वोक्त किन्हीं कारणोंसे गुरुका त्याग करना पड़ता है तब धर्मसम्बन्धि प्रश्नों तथा समस्याओं का समाधान उसे कहांसे प्राप्त करना चाहिये? इन प्रश्नोंका समाधान श्रीमहाप्रभुरचित 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'ग्रन्थमें और उसके ऊपर लिखी गई श्रीपुरुषोत्तमजीकृत 'आवरणभंग'नामक टीकामें किया गया है:—

> श्रीमहाप्रभूक्त गुरुके लक्षणोंवाला एक भी श्रीवल्लभवंशज यदि उपलब्ध नहीं होता हो तो, श्रीमहाप्रभुजी तो सभीके गुरु हैं ही, अतः श्रीमहाप्रभुजीको ही अपना गुरु मानकर, उनके

> ग्रन्थोंमें निरूपित सिद्धान्तोंको मार्गदर्शक बनाकर स्वयं ही मार्गरीति अनुसार भगवत्सेवामें लग जाना चाहिये. (ऐसी स्थितिमें मार्गसम्बन्धि विशेष सलाह-सूचना कहांसे प्राप्त करनी चाहिये इस सम्बन्धमें श्रीपुरुषोत्तमजी आज्ञा करते हैं:) ऐसे लोगोंको मार्गके जानकार-अनुभवी भगवदीय (तथा जिनका आचरण सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे विपरीत न हो ऐसे) वैष्णवोंके द्वारा मार्गसम्बन्धि सलाह-सूचना प्राप्त करनी चाहिये.

श्रीहरिरायचरण भी 'स्वमार्गीय-शरण-समर्पण-सेवादिनिरूपणम्' नामक ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं:

> (जिस प्रकार, चिकित्सक खुद बीमार भले ही हो पर रोगीकी चिकित्सातो सही प्रकारसे कर ही सकता है उस प्रकार) आधुनिक वल्लभवंशजोमें यदि गुरुके लक्षण न मिलते हों तब भी यदि उपदेश वे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंके अनुसार देते हों तो उनका उपदेश सद्गुरुके उपदेशकी तरह ही फलप्रापक सिद्ध हो सकता है. परन्तु, (जैसा कि आज-कल देखा जाता है; कंई चिकित्सक अपना धन्धा चलानेकेलिये लोगोंको उलटी-सीधी दवाईयाँ देते रहते हैं अथवा जो रोग उनको होता ही नहीं है उस रोगका निदान करके स्वस्थ आदमीको भी बीमार बना देते हैं, ऐसे लालची दुर्भावनाग्रस्त और स्वार्थी चिकित्सकके चक्करमें पड़कर लोग अकारण ही परेशानी उठाते फिरते हैं. उस प्रकार) आधुनिक वल्लभवंशजोंकी बुद्धि दुःसंगादि (पैसे या प्रतिष्ठा की लालच अथवा अन्याश्रय आदि) दोषोंके कारण मार्गके सिद्धान्तोंसे विपरीत तो नहीं हो गई है इस बातकी परख कर लेनी चाहिये.

अतएव, आधुनिक उपदेशक यदि श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंसे विपरीत उपदेश देते हों (यथा, सेवा तनुजा वित्तजा और मानसी यों तीन प्रकारसे हो सकती है; पुष्टिमार्गमें देवद्रव्य नहीं होता है;

जीवोंका तो ब्रह्मसम्बन्ध ही नहीं होता है.) अतः भगवत्सेवामें प्राप्त होते फलकी प्राप्तिमें भी अधिकार केवल उन पुष्टिजीवोंका ही होता है. अतएव, ब्रह्मसम्बन्ध भी उन पुष्टिजीवोंका ही करवाना चाहिये.

पुष्टिजीवोंकी पहचान कैसे हो सकती है?

जिन जीवोंको भगवान् पुष्टिमार्गीय फल प्रदान करना चाहते हों उन भगवद्कृपापात्र जीवोंको ही 'पुष्टिजीव' कहा जाता है. किसी व्यक्तिके ऊपर प्रभुकी कृपा है या नहीं इसका ज्ञान उसको देखनेसे नहीं हो सकता है. प्रभुकी कृपा, क्योंकि, अप्रत्यक्ष होती है. परन्तु किसी जीवको अपना सर्वस्व प्रभुको समर्पण करके पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तानुसार प्रभुसेवा-स्मरणमय जीवन व्यतीत करनेकी स्थायी रुचि यदि होती है तो समझना चाहिये कि प्रभुकी कृपा उस जीवके ऊपर हुई है. क्योंकि, प्रभुकृपाके विना इस प्रकारकी रुचि किसी भी व्यक्तिके अन्दर जागृत हो नहीं सकती है.

रुचिके प्रकार:

रुचि दो प्रकारकी होती है: स्थायी तथा अस्थायी. जिस प्रकारका सामाजिक-पारिवारिक वातावरण, संग, प्रेरणा, अध्ययन आदि हमें प्राप्त होते हैं, सामान्यतया, उसी प्रकारकी रुचि हमारे अन्दर हुवा करती है. अक्सर कुछ विषयोंमें हमारी रुचि अल्पकालीन होती है. थोड़े ही समयमें हम उन विषयोंके प्रति उदासीन हो जाया करते हैं. इस प्रकारकी अस्थायी रुचि यदि पुष्टिभक्तिमार्गके अन्दर हमारी होती है तो उसे सच्ची रुचि नहीं समझना चाहिये. क्योंकि रुचि यदि अस्थायी है तो कार्यका आरम्भ तो उत्साहके साथ किया जा सकता है परन्तु उस कार्यको परिणाम तक अविरत निभाया नहीं जा सकता है. अर्थात् अस्थायी रुचिके आधार पर हम किसी कार्य/साधनामें निष्ठावान नहीं बन सकते हैं. अतएव, पुष्टिभक्तिमार्गमें प्रवेश पानेका निर्णय जब हमें हमारी रुचिके आधारपर करना है तब हमारी रुचि स्थायी है या अस्थायी इस बातको भी ठोक-पीटकर

जान लेना चाहिये.

किसी विषयमें जब हमें रुचि होती है तब सर्वप्रथम हम उसके बारेमें यथासम्भव जानकारी जुटानेका प्रयास करते हैं. जानकारी प्राप्त हो जाने पर, अब भी यदि हमारी रुचि कायम है तो दूसरे कदमपे हम उस विषयको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं. विषयके प्राप्त हो जाने पर भी यदि हमारी रुचि समाप्त नहीं हुयी है तो हम उसको अपने जीवन-व्यवहारमें लानेका प्रयत्न करते हैं. दीर्घकालपर्यन्त जीवन-व्यवहारमें आने पर भी यदि हमारी रुचि उस विषयमेंसे कम नहीं होती है अर्थात्; उसके प्रति उदासीनताका भाव नहीं जगता है, उसके दर्शन / श्रवण / स्मरणसे भी रोमाञ्चका अनुभव होता है तो समझना चाहिये कि उस विषयमें हमारी रुचि अस्थायी नहीं है. ऐसी ही स्थायी रुचि जब हमारे अन्दर पुष्टिभक्तिमार्गका अनुसरण करनेकेलिये जगती है तब समझना चाहिये कि हमारे उपर प्रभुकी कृपा अवश्य है, और हम पुष्टिभक्तिमार्गका अनुसरण करनेकेलिये सुयोग्य हैं.

रुचि होनेकी प्रक्रिया :

दैवी जीवोंमेंसे जिन जीवोंको पुष्टिभक्तिमार्गमें लानेकी इच्छा प्रभु करते हैं उन जीवोंके जीवनमें प्रभु ऐसे-ऐसे निमित्त ला देते हैं कि जिनके कारण उनको भगवन्मार्गमें (प्राथमिक) रुचि उत्पन्न हो जाती है. जीवोंमें रुचिका जगना मुख्य बात होती है, रुचिके जागरणका निमित्त चाहे कुछ भी हो. परिवारमें अशान्ति, व्यापारमें हानि, रोगिष्ट / वृद्धावस्था, अन्धानुकरण, संग, उपदेशश्रवण, चमत्कारिक अनुभव, तीर्थयात्रा आदि अनेक निमित्तोंसे जीवोंको भगवन्मार्गमें रुचि हुयी होनेके दृष्टान्त प्राप्त होते हैं. रुचि होनेके पश्चात् सत्संगतिके द्वारा भक्तोंके मुखसे प्रभुके स्वरूप-नाम-लीला-गुणोंको, श्रीमहाप्रभुजीके एवम् पुष्टिभक्तोंके चरित्र तथा स्वरूप को तथा पुष्टिभक्तिमार्गके सिद्धान्तोंको सुनने तथा अनुभव करनेका लाभ मिलता है. इसके परिणामस्वरूप उन कृपावान जीवोंकी रुचि पुष्टिभक्तिमार्गमें

दृढतर हो जाया करती है. कुछ विशेष कृपापात्र जीवोंमें तो प्रभु स्वयं ही, किसीको भी निमित्त बनाये बिना, अन्तःप्रेरणासे ही भगवद्भक्तिके मार्गमें रुचि जगा दिया करते हैं. इस प्रकारकी मार्गरुचिवाला जीव पुष्टिभक्तिमार्गमें प्रवेश पानेकेलिये योग्य माना जाता है.

रुचि जगानेके सही और शुद्ध उपाय :

ज्ञान इच्छा और प्रयत्न यह क्रम होता है किसी कार्यमें हमारे प्रवृत्त अथवा निवृत्त होनेका. सर्वप्रथम हमें कार्य / वस्तुका ज्ञान होता है. ज्ञान होने पर उस कार्यके सम्बन्धमें हमारे अन्दर रुचि, अरुचि अथवा उपेक्षा इनमेंसे कोई एक भाव जगता है. अरुचि अथवा उपेक्षा (= न रुचि और न अरुचि) के भाव जगने पर कार्यमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती अथवा निवृत्ति होती है. रुचि होने पर उस कार्यको करनेकी इच्छा हमारे अन्दर जागृत होती है. तदनन्तर कार्यमें प्रवृत्ति होती है. कार्यकी सिद्धि अथवा असिद्धि हमारे प्रयत्नके उपर निर्भर होती है. हमारा प्रयत्न यदि सही दिशामें और सही ढंगका होगा तो कार्य सफल होगा अन्यथा असफल. प्रयत्नका सही अथवा गलत होना भी, पुनः, कार्य / वस्तुविषयक हमारे ज्ञानके उपर निर्भर करता है. अतएव, सूक्ष्मतासे यदि विचार किया जाय तो अन्ततो गत्वा ज्ञान ही सफलता अथवा असफलता का मूल सिद्ध होता है.

हमारा विचार्य विषय है: रुचि. जैसे कि हमने पूर्वमें देखा, रुचिकी उत्पत्ति ज्ञानसे होती है. हमारा ज्ञान यदि वास्तविक / यथार्थ (जो जैसा हो उसका वैसा ही ज्ञान) होगा तो हमारी रुचि अरुचि अथवा उपेक्षा भी यथार्थ होगी. फलस्वरूप हमारी प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति भी यथार्थ होगी. यदि हमारी प्रवृत्ति यथार्थ होगी तो फल अवश्य प्राप्त होगा. और यदि अयथार्थ हुई तो उसके दो परिणाम हो सकते हैं: एक तो यह कि अयथार्थ प्रवृत्तिके फलस्वरूप हम फलकी प्राप्तिसे सर्वथा वञ्चित ही रह जायें, और

दूसरा यह कि यदि फल मिले तो वह हमारेलिये शायद अभिलषित ही न हो. इन दोनों स्थितिओंमें श्रम सामर्थ्य और समय व्यर्थ जाते हैं. अल्पजीवी अल्पसमर्थ मनुष्यकेलिये यह स्थिति बडी ही भयानक सिद्ध हो सकती है, यदि ऐसी गति उसकी धर्मके सम्बन्धमें होती है.

वर्तमान समयमें धर्म और व्यापार-धन्धेके बीचकी भेदरेखा समाप्त होती दिखलाई दे रही है. धर्मका व्यापारीकरण हो रहा है. धर्माचरण, धर्माध्ययन हो या फिर धर्मापदेश; सबमें उन्हीं सब तरकीबोंका इस्तेमाल देखा जा सकता है जो कि एक कुशल व्यापारी अपने व्यापारमें करता है. यहां हमारा प्रमुख लक्ष्य धर्मोपदेश / धर्मप्रचार है. इस विषयको अतिगम्भीरतासे हमें समझना चाहिये ताकि इसके विनाशक परिणामोंसे हम बच सकें.

व्यापारी इस लक्ष्यको लेकर चलता है कि कैसे उसके मालकी बिक्री अधिकसे अधिक हो, जिससे कि उसे अधिकसे अधिक मुनाफा मिल पाये. अपने लक्ष्यको पानेकेलिये वह— लोगोंकी रुचि, उनका जीवनस्तर तथा शैली, उनकी आवश्यकता / अनावश्यकता, उनके प्रभावित होनेकी सम्भावना, भावि समय, स्वसमान वस्तुके विक्रयकी स्थिति आदि विषयोंको ध्यानमें रखकर —अपने मालका प्रचार ऐसे ढंगसे करता है जिससे कि ऐसे प्रचारके सम्पर्कमें आनेवाला व्यक्ति उस वस्तुको खरीदे बिना रह ही न सके, उसको खरीदनेकेलिये वह विवश सा हो जाय. प्रायः देखा जाता है कि ऐसे प्रचार वास्तविकतासे कोसों दूर होते हैं. अधिकतर उनमें जूठे प्रलोभन एवं अवास्तविक गुणोंका अतिशयोक्तिभरा वर्णन ही होता है. प्रचारकी तरकीबोंसे अपरिचित और कई सुपरिचित लोग भी जब ऐसे प्रचारके सम्पर्कमें आते हैं तो सोचने लगते हैं कि उस वस्तुको नहीं खरीदनेवाले इस दुनियामें केवल वे ही हैं अथवा; उस वस्तुको नहीं खरीदनेवालेको समाजमें मान्यता ही नहीं मिल सकती है अथवा; उस वस्तुको नहीं खरीदने पर वे बहुत बड़ा लाभ खो रहे हैं आदि. और इसीके फलस्वरूप

वे लोग उन निरुपयोगी / अलाभकारी उत्पादनोंको खरीद बैठते हैं और वास्तविकताका ज्ञान होने पर पछताते भी हैं. व्यापारमें कुछ हद तक इस प्रकारकी धोखा-धड़ीको कानूनन मान्य किया गया है. पर निर्धारित सीमाके बाहर की जाती धोखा-धड़ीको तो कानून भी दण्डनीय मानता है. धर्मप्रचार / उपदेशमें, परन्तु, इस प्रकारकी धोखा-धड़ीको क्षम्य नहीं माना जा सकता है.

भारतीय प्राचीन धर्मपरम्परामें धर्ममार्गों / धर्मसम्प्रदायोंको अत्यन्त आदरसे देखा जाता था. कुछ अपवादोंको छोड़कर, आज भी आदरसे देखा जाता है. हमारे समाजमें जितने धर्मसम्प्रदाय आज प्रचलित हैं उतने ही और सम्भवतः उससे भी अधिक भूतकालमें भी प्रचलित थे ही. ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि जीवित अथवा मृत प्राचीन सम्प्रदायोंमें शास्त्रीय प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलका तथा उनकी पारस्परिक एकवाक्यताका आग्रह देखा जाता है. उपदेशक तथा अनुयायी के विषयमें योग्यता-अयोग्यताका मानदण्ड प्राप्त होता है. इसके विपरीत अधिकतर आधुनिक सम्प्रदायोंमें न तो शास्त्रीयताका कोई अंश देखा जा सकता है और न हि प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलकी सुविचारित पारस्परिक एकवाक्यता ही प्राप्त होती है. और उपदेशक-अनुयायीकी योग्यता-अयोग्यताके मानदण्डके विषयमें तो भयंकर अराजकता ही दिखलाई देती है.

धर्मप्रचारकार्यके विषयमें सोचें तो जितनी मात्रामें धर्मप्रचारकार्य आज हो रहा है उतनी ही और सम्भवतः उससे भी अधिक मात्रामें पूर्वकालमें भी हुवा करता था. आज अन्तर, परन्तु, उसके उद्देश्य तथा प्रकार-ढंग में आ गया है. धर्मप्रचारका वास्तविक उद्देश्य होता है: श्रेय(मुक्ति / भक्ति)प्राप्तिके प्रति लोगोंकी रुचिको जागृत करना तथा अपनी अपनी समझके अनुसार श्रेयप्राप्तिरूप फलके जो जो शास्त्रीय साधन तथा प्रमाण-प्रमेय निर्धारित किये गये हों उनका लोगोंको यथार्थ ज्ञान करवाना. जिससे कि श्रेयप्राप्तिमें रुचि रखनेवाले लोग भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोक्त

प्रमाण-प्रमेयादिकी तुलना करके तथा खुदकी रुचि, शक्ति आदिका विचार करके किसी एक सम्प्रदायका अपनेलिये चयन कर सकें. प्रचारकोंको केवल इस और इसी उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर प्रचारकार्य करना चाहिये. इस उदात्त उद्देश्यको छोड़कर सम्प्रदायके प्रचारक यदि अनुयायिओंकी संख्याको बढ़ाना, इतर सम्प्रदायके अनुयायिओंको उनके सम्प्रदायमेंसे खींचकर अपने सम्प्रदायमें लाना, व्यक्तिपूजा, धन-यश आदिकी प्राप्ति, इतर सम्प्रदायोंका उपहास तथा उनसे प्रतिस्पर्धा जैसे अति हीन उद्देश्यसे प्रचारकार्य करते हैं तो उसमें न तो उनके सम्प्रदायका न उनका खुदका और न ही अनुयायिओंका कल्याण है. वर्तमान समयमें सम्प्रदायोंमें परस्पर अविश्वास प्रतिस्पर्धा तथा कलह का जो वातावरण देखा जाता है वह गलत उद्देश्यसे होते प्रचारकार्यका ही परिणाम है. अतएव इन जघन्य उद्देश्योंको छोड़कर अनुयायिओंको यथाधिकार श्रेयप्राप्ति हो ऐसे शुद्ध उद्देश्यसे धर्मप्रचारकार्य करना चाहिये.

किसी खाद्यपदार्थके वास्तविक स्वादको हम तभी जान सकते हैं कि जब उसके अन्दर मिर्च-मसाले या अन्य किसी पदार्थकी मिलावट न हो. उसी तरह किसी धर्मसम्प्रदायमें हमारी रुचि वास्तविक है अथवा नहीं इस बातका ज्ञान भी हमको तब ही हो सकता है कि जब सभी धर्मसम्प्रदाय स्वाभिमत सिद्धान्तोंको उनके वास्तविक तथा शुद्ध रूपमें अर्थात्; उनके मूलस्वरूपमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन / परिवर्धन किये बिना एवं जूठे प्रलोभन भय तथा छल-कपट को छोड़कर हमारे सामने प्रस्तुत किया जाये. धर्मप्रचारके इस शुद्धप्रकारको छोड़कर यदि अन्यान्य जघन्यप्रकारोंके द्वारा स्वसम्प्रदायके प्रति लोगोंकी रुचिको जगानेका प्रयत्न किया जाता है तो निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि उन नकली प्रचारोंके कारण जगनेवाली रुचि भी नकली ही होगी, वह वास्तविक नहीं हो सकती है. ऐसी अवास्तविक रुचिके आधारपर सम्प्रदायमें प्रविष्ट होनेवाले अनुयायी न तो सम्प्रदायके वास्तविक-आध्यात्मिक उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं और न ही स्वयं किसी आध्यात्मिक लाभको

प्राप्त कर सकते हैं. अतएव, आध्यात्मिक / आधिदैविक लक्ष्यकी प्राप्तिके उद्देश्यको लेकर प्रवृत्त हुवे सम्प्रदायके आचार्योंको एवं प्रचारकोंको — विद्यालय छात्रावास विश्रामस्थल चिकित्सालय रक्तदान चिकित्सा-शिबिर अन्नक्षेत्र पशुकल्याण द्रव्यसहाय भूमिदान व्यापार कृषि समूहलग्न पर्यटन उद्यान क्रीडांगण मतलाभ अल्पसंख्यकाधिकार आदि भौतिक प्रलोभनोंको तथा फिल्मी सितारे, उद्योगपति, राजनेता आदिको अपने सम्प्रदायके प्रचारके मोहरे नहीं बनाने चाहिये. सम्प्रदायके अनुयायिओंको अथवा जनसाधारणको भौतिक सुविधा प्रदान करना एक बात है और उनको धर्मप्रचारका हथकण्डा बनाना दूसरी बात है. सनातनधर्मोक्त अतिथिसत्कार, भूतयज्ञ, दान आदि व्यक्तिगत स्तरपर होनेवाले धर्माचरणसे भी जब समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं होती है ऐसी स्थितिमें सम्प्रदायके माध्यमसे भौतिक सुविधाओंको प्रदान करनेके बजाय उत्तम बात तो यह है कि प्रशासनके द्वारा, प्रशासनके सहयोगी बनकर, उन आवश्यकताओंकी पूर्ति करवाई जाये. क्योंकि, प्रजाकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेका कार्य प्रजासे कर वसूल करनेवाले प्रशासनका ही होता है, धर्मसम्प्रदाय अथवा धर्माचार्य का नहीं. "अच्छी तरहसे अनुष्ठित परधर्मकी तुलनामें अच्छी तरहसे पालन न किया गया हो ऐसा भी स्वधर्म ही उत्तम होता है. स्वधर्ममें मृत्यु भी श्रेयस्कर होती है. परधर्माचरण, परन्तु, भयानक होता है" (गीता.३।३५). भगवानके इस आदेशानुसार सभीको अपना अपना कार्य करना चाहिये, पराये कार्य नहीं. भगवानके इस उपदेशको नहीं समझकर धर्माचार्य जब स्वधर्माचरण-धर्मोपदेशादि कार्योंको छोड़कर समाजसेवा राजनीति जैसे कार्योंमें जुट जाते हैं तब उसके बड़े ही विकृत परिणाम सामने आते हैं. प्रशासन प्रजाके हितकार्योंसे विमुख हो जाता है. समाजसेवा आदि कार्योंसे प्राप्त होती यश-कीर्तिके लोभमें धर्माचार्य स्वकर्तव्यरूप धर्मोपदेश शास्त्राध्ययन धर्मानुष्ठान आदिसे विमुख हो जाता है. समाज धर्माचार्यसे धर्मलाभके स्थानपर उनकी मन्नत/आशीर्वादादिसे भौतिक लाभकी प्राप्तिकी अपेक्षा करने

लगता है. और इसके फलस्वरूप लोगोंकी सम्प्रदायमें रुचि-प्रवृत्ति भी धर्मसिद्धान्तोंके आधारपर न होकर उपरोक्त भौतिक लाभकी जूठी अपेक्षाओंके कारण होने लगती है. जूठी अपेक्षाओंको लेकर सम्प्रदायमें प्रविष्ट होनेवाले लोग सम्प्रदाय गुरु एवं स्वयं के भी अध:पतनका कारण बनते हैं.

अतएव, यह फलित होता है कि अपने यहां गुरुको सर्वप्रथम दीक्षार्थीकी मार्गरुचिकी परीक्षा करनी चाहिये. तत्पश्चात् जब उसको यह निश्चय हो कि दीक्षार्थी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके सिद्धान्तानुसार प्रभुसेवा-स्मरणमय जीवन जीनेकेलिये तत्पर है तब ही उसे पुष्टिभक्तिमार्गमें दीक्षित करना चाहिये, अन्यथा नहीं. अयोग्य व्यक्तिको दीक्षा देनेसे खुद गुरुका ही नाश हो जाता है इस प्रभुचरण श्रीगुसांईजीकी आज्ञाको नहीं भूलना चाहिये—

विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः।
अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति॥

भावार्थ: शिष्यकी योग्यताका विचार करके ही दीक्षा देनी चाहिये. उसमें भी श्रीकृष्णके नाममन्त्रकी दीक्षा देनेमें तो अतिशय सावधानी रखनी चाहिये. क्योंकि सोचे-समझे बिना यदि किसी अयोग्य व्यक्तिको दीक्षा दे दी जाती है तो खुद दीक्षा देनेवालेका ही नाश हो जाता है.

अतएव, गुरुको स्वयंके तथा शिष्यके कल्याणमात्रकी भावना रखकर दीक्षा देनी चाहिये. ऐसा शुध्ध-पवित्र भाव रखकर यदि गुरु दीक्षा देता है तो उसे भगवानके नामका विक्रय करनेका दोष नहीं लगता है. परन्तु गुरु यदि चेले बढाने अथवा धनप्राप्ति की लालसासे, शिष्यकी योग्यता-अयोग्यताका विचार किये बिना ही, मन्त्रदान करता है तो वह दीक्षाके नाम पर भगवानके नामको ही बेचता है. भगवन्नामको बेचनेके अतिजघन्य अपराधका दण्ड गुरुको भुगतना ही पड़ता है. ब्रह्मवैवर्तपुराणमें, भगवन्नामके माध्यमसे अपनी दुनियादारी चलानेवाले पापी लोगोंकी निन्दा करते हुवे पृथ्वी ब्रह्माजीसे कहती है:—

"श्रीकृष्णके मंगलकारी नामको जो व्यक्ति (ढाढीलीला, कीर्तनभेंट, तुलसीकी जपमालाकी बोली बुलवाकर, भागवतकथा, अयोग्यको दीक्षादान इत्यादि द्वारा) बेचता है उसके पापाचरणके भारसे मैं पीडित हो रही हूँ."

भगवान् श्रीनन्दरायजीसे कहते हैं:

"मेरे नामको बेचनेवाले ब्राह्मणको मरते समय मेरा नाम याद नहीं आ सकता है. वो कभी भी जन्म-मरणके फेरोंसे मुक्त नहीं हो सकता है."

इन सब बातोंसे यह सिद्धान्त स्थापित होता है कि मार्गके सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन जीनेकी इच्छाका दीक्षार्थीके हृदयमें होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है. ऐसा शिष्य कि जो दीक्षा तो ले लेता है परन्तु मार्गके सिद्धान्तानुसार आचरण नहीं करता है वह पाखण्डी और विश्वासघाती ही है. ऐसे अधम मनुष्यको शिष्य बनानेसे खुद गुरुकी अयोग्यता एवं मार्गके प्रति लापरवाही का ही प्रदर्शन होता है. जिस प्रकार डॉक्टरके पास जाने पर भी रोगी निरोगी नहीं होता है तो उससे डॉक्टरकी ही अकुशलता लापरवाही अथवा अयोग्यता का प्रदर्शन होता है, उसी प्रकार जिस गुरुके शिष्य कर्तव्यपालनविहीन अज्ञानी अविवेकी मूर्ख अयोग्य या पाखण्डी होते हैं तो उससे स्वयं गुरुकी ही अयोग्यता, लापरवाही, मार्गके प्रति निष्ठाविहीनता एवं सिद्धान्तविपरीतता सिद्ध होती है.

सार :

पुष्टिमार्गका अनुयायी

—दैवी-पुष्टिसृष्टिका जीव होना चाहिये.

—मार्गमें स्थायी रुचि-जिज्ञासावाला होना चाहिये.

—पुष्टिमार्गीय कर्तव्योंका पालन करनेकेलिए तत्पर होना चाहिये.

३. देयवस्तु = दीक्षामन्त्र :

शरणमन्त्र तथा समर्पणमन्त्र ये दो मन्त्रदीक्षाएँ पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें प्रचलित हैं. सम्प्रदायके सिद्धान्त और परम्परा में ऐसा देखा गया है कि जब किसी व्यक्तिको प्रभुसेवा-स्मरणमय जीवन जीनेमें आदर एवं रुचि तो होती है परन्तु, किन्हीं कारणोंसे, इच्छा होने पर भी वह भगवत्सेवा कर नहीं पा रहा है तब ऐसे व्यक्तिको केवल शरणमन्त्रकी ही दीक्षा प्रदान की जाती है. जबकि समर्पण-ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रकी दीक्षा तो केवल उसीको देनेका नियम है कि जो श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तानुसार अपने घरमें सर्वस्वका समर्पण करते हुवे प्रभुकी सेवा करनेकेलिये पूर्णरूपसे तैयार होता है.

इस विषयका लौकिक उदाहरणकी सहायतासे विचार करें. समाजमें हम देखते हैं कि जब कोई कन्या और युवक एक-दूसरेको जीवनसाथी बनाना पसन्द एवं तय करते हैं तब प्रथम उनकी मंगनी-सगाई करवाई जाती हैं. उनका विवाह तत्काल नहीं कराया जाता है. विवाह उनका तब कराया जाता है कि जब वे खुदके गृहस्थजीवनका निर्वाह करनेमें पूर्णरूपसे सक्षम हो जाते हैं. इस दृष्टिसे देखा जाये तो शरणदीक्षा जीवकी प्रभुके साथ मंगनी-सगाईकी तरह होती है. और ब्रह्मसम्बन्ध-समर्पणदीक्षाको प्रभुके साथ जीवका विवाहसम्बन्ध समझना चाहिये. इस दृष्टान्तमें ध्यान देने योग्य विषय यह है कि विवाहिता कन्या यदि अपने पतिके घर नहीं जाती है तो असन्तुष्ट पति जिस प्रकार उसका त्याग कर देता है उसी प्रकार आत्मसमर्पणदीक्षाके द्वारा जिनका विवाह प्रभुके साथ कराया गया होता है वे लोग यदि प्रभुसेवा नहीं करते हैं तो प्रभुने भी उनका त्याग कर रखा है ऐसा समझना चाहिये. ऐसा सोचनेका कारण यह है कि प्रभुने जिसका स्वीकार पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें किया होगा वह इस सम्प्रदायकी दीक्षाको पाकर भगवत्सेवाके बिना रह ही नहीं सकेगा.

मन्त्रकी उत्पत्ति :

शरणमन्त्र :

कौरव-पाण्डवके बीच कुरुक्षेत्रमें हुवे धर्मयुद्धकी आरम्भिक क्षणोंमें अर्जुनको अकस्मात् ऐसी द्विधा हो गई थी कि उसे युद्ध करना चाहिये अथवा नहीं. उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जो उपदेश दिया था वह 'भगवद्गीता'के नामसे जाना जाता है. अर्जुन एक के बाद दूसरी अपनी शंका भगवानके सम्मुख प्रस्तुत करते गये और भगवान् श्रीकृष्ण उनका समाधान करते गये. अनेक प्रश्नोंका समाधान कर देने पर भी जब अर्जुन स्वयं किसी भी निर्णय पर पहुंच न सके तब भगवान् श्रीकृष्णने अन्ततो गत्वा अर्जुनको समग्र गीता एवं समस्त शास्त्रका सारभूत, भगवान्के शब्दोंमें कहा जाये तो 'सर्वगुह्यतम', शरणागतिका यह उपदेश दिया. भगवानने कहा :—

> "सर्व गुह्य (सरलतासे जाना नहीं जा सके वैसे) से भी अत्यन्त गुह्य और फलरूप-परम मेरे इस उपदेशको तू सुन. तू मुझको अतिशय प्रिय है इसलिए मैं तुझको (तथा तेरे जैसे मेरे प्रिय भक्तोंको) यह हितकारी वचन कह रहा हूँ."

भगवान् सर्व गुह्यसे भी गुह्य उपदेश देते हैं :

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

भावार्थ: तू मेरेमें मन रख, मेरा भक्त हो, मेरी सेवा कर, मुझको नमस्कार कर. तू मुझको प्रिय है अतएव, तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त करेगा. अतएव —

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भावार्थ: (मेरे शरणमें आनेमें बाधारूप) सर्व धर्मोंका त्याग करके तू एक मेरे ही शरणमें आ जा. मैं

तुझको सब पापोंसे (अर्थात् मेरे शरणमें आते समय जितने भी विघ्न आयेंगे उन सब विघ्नरूप पापोंसे) मुक्त करूंगा. तू चिन्ता मत कर.

भगवान् श्रीकृष्णकी शरणागतिका साररूप गीताका यह उपदेश ही पुष्टिभक्तिमार्गीय शरणमन्त्रका बीज है.

समर्पणमन्त्र :

पुष्टिजीवोंको प्रभुसेवा-भक्तिके मार्गकी ओर मोड़नेकेलिये सबसे अधिक आवश्यकता थी उनका प्रभुके साथ सम्बन्ध कराना. क्योंकि, जब तक एकका दूसरेके साथ परिचय ही न हो तब तक उसके प्रति रुचि स्नेह अथवा आसक्ति कैसे हो सकती है? एक दिन श्रीमहाप्रभुजी इसी विषयका विचार कर रहे थे. वह श्रावण शुक्ल एकादशीकी अर्धरात्रिका समय था. एकादशीका जागरण था. श्रीमहाप्रभुजीको विचारमग्न जानकर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमहाप्रभुजीके समक्ष साक्षात् प्रकट हुवे. भगवानने पुष्टिजीवोंका उनके साथ सम्बन्ध करानेकेलिये श्रीमहाप्रभुजीको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षामन्त्र (= आत्मनिवेदनमन्त्र, समर्पणमन्त्र, गद्यमन्त्र) प्रदान किया. साथ ही साथ भगवानने, समर्पणदीक्षा ग्रहण कर लेनेके पश्चात् दीक्षित पुष्टिमार्गी शिष्यको अपना जीवन प्रभुसेवा-स्मरणमय किस तरह बीताना चाहिये एवं कौन-कौनसी बातोंका त्याग करना चाहिये उन विषयोंका उपदेश भी श्रीमहाप्रभुजीको दिया. उस समग्र उपदेशको भगवानके ही शब्दोंमें श्रीमहाप्रभुजीने 'सिद्धान्तरहस्य'नामक ग्रन्थके रूपमें संकलित करके पुष्टिभक्तिमार्गिओंको दिया है.

मन्त्रजपका प्रकार :

स्नानादिके द्वारा यथासम्भव शुद्ध होकर, स्वच्छ वस्त्र धारण करके, चरणामृत लेकर, तिलक-मुद्रा धारण करके, घरमें जहां सर्वाधिक शुद्ध-पवित्र शान्त स्थान हो वहां एक स्वच्छ आसन बिछाकर उसपर बैठना चाहिये. तुलसी काष्ठकी बनी हुई जपमाला दाहिने हाथमें लेकर प्रत्येक मनके पर एक-एक बार मन्त्रका उच्चार करना चाहिये. दीक्षामन्त्रका जप दूसरा कोई सुन न सके उतने मन्द स्वरसे करना

चाहिये. मन्त्रजप करते समये अपने इष्टदेव श्रीकृष्णका कोई सुन्दर चित्र आदरपूर्वक सामने पधराकर उनके दर्शन करते-करते एकाग्र चित्तसे जप करें. मन्त्रजपके समय मन्त्रके अर्थका अनुसन्धान रखना अतिआवश्यक होता है. ब्रह्मसम्बन्धदीक्षामन्त्रका जप (घूमते-फिरते या काम करते) यथेष्ट अवस्थामें नहीं किया जाना चाहिये. इस सम्बन्धमें विशेष जानकारी अपने गुरुके पाससे प्राप्त करनी चाहिये.

४. पुष्टिभक्तिमार्गीय दीक्षास्थान :

दीक्षाविधिकी असाधारण पवित्रताको देखते हुवे दीक्षाविधिके स्थानका भी पवित्र होना आवश्यक होता है. यही कारण है कि पुष्टिभक्तिमार्गकी समर्पणदीक्षा पुष्टिजीवोंके इष्टदेव श्रीकृष्णके सम्मुख देनेकी परम्परा है. जहाँ साक्षात् प्रभु बिराजमान हों उससे अधिक पवित्र स्थान दूसरा कौनसा हो सकता है? शरणदीक्षा प्रदान करनेके स्थलके विषयमें भी ऐसा नियम होना आवश्यक लगता है.

५. पुष्टिभक्तिमार्गीयदीक्षा प्रदान करनेका समय :

दीक्षार्थी सम्प्रदायकी साधना आरम्भ करनेकेलिए जिस समय पूर्णरूपसे तैयार हो जाता है वही समय दीक्षा प्रदान करनेका योग्य समय गिना जाता है. इस दृष्टिसे देखा जाय तो पुष्टिमार्गीय शरणदीक्षा उसीको दी जा सकती है कि —

(१) जो प्रभुसेवामें रुचि रखता हो.

(२) जिसका श्रीकृष्णमें आश्रय दृढ हो / दृढ आश्रय पाना चाहता हो.

(३) जिसने श्रीकृष्णके अलावा अन्य सभी देवी-देवताओंके आश्रयका त्याग कर दिया हो / त्याग करनेकेलिये तत्पर हो.

और, शरणमार्गके कर्तव्यके रूपमें

(४) मार्गप्रवर्तक गुरु श्रीमहाप्रभुजीके दिव्य स्वरूपका तथा स्वमार्गीय सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त करनेकेलिये जो तत्पर हो

(५) जो वैष्णवचिह्नोंको धारण करनेमें संकोचका अनुभव न करता हो. तथा

(६) प्रभुके स्वरूप-लीला-गुण एवं नामोंका श्रवण-कीर्तन-स्मरण करनेमें तत्पर हो. इत्यादि

शरणमार्गके कर्तव्योंका पालन करनेकेलिए जो पूर्णरूपसे तैयार हो उसे ही शरणदीक्षा देनी चाहिये.

इसी तरह; शरणमार्गके कर्तव्योंका पालन करते हुवे जब एक साधक अपना सर्वस्व प्रभुको समर्पित करके प्रभुका दास बनकर पुष्टिभक्तिमार्गानुसार प्रभुसेवामय जीवन बीतानेकेलिए पूर्णरूपसे तैयार हो जाता है तब उसे समर्पणदीक्षा दी जानी चाहिये.

६. उपक्रम/भावना :

(१) उपक्रम :

जिस दीक्षाके कारण जीव प्रभुके साथ सगाईके सम्बन्धसे जुड़ जाता है, और जिस दीक्षाके माध्यमसे जीवका प्रभुके साथ विवाह सम्बन्ध होता है उन दीक्षाविधिकी प्रक्रियाका एवं दीक्षा लेने तथा देनेवाले दोनोंके तन-मनका अत्यन्त पवित्र होना आवश्यक होता है. इसी कारणसे दीक्षाके पूर्व दीक्षार्थीके देह-इन्द्रियोंकी शुद्धिकेलिये दीक्षार्थीको स्नान एवं व्रत करवानेका नियम परम्परासे प्राप्त है. सच कहा जाय तो इन सब विधिके पीछे भावना यही होती है कि किसी भी तरहसे दीक्षार्थीको दीक्षाकी गम्भीरता-पवित्रता समझमें आये तथा उसके तन-मन दीक्षानुकूल पवित्र बनें. अभी तक पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें इस प्रकारकी परम्पराका निर्वाह केवल ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेके प्रसंगमें ही होता रहा है. अब आधुनिक दीक्षार्थिओंकी स्थितिको, वर्तमान तथा आनेवाले समयको तथा उक्त परम्पराके सद्हेतुका विचार करते हुवे इस परम्पराको यदि शरणमन्त्रदीक्षा प्रदान करनेके प्रसंगमें भी स्थापित कर दिया जाता है तो वह सम्प्रदायके हितका ही कार्य होगा. और ऐसा करनेसे सम्प्रदायके किसी सिद्धान्तका बाध होता हो ऐसा भी नहीं है.

(२) भावना :

श्रीमहाप्रभुजीकी परमकृपासे दीक्षा प्रदान करनेका सौभाग्यपूर्ण परन्तु एक चुनौती-सा कठिन उत्तरदायित्व श्रीवल्लभवंशजोंको प्राप्त हुवा है. श्रीवल्लभवंशजोंका यह पवित्र कर्तव्य है कि वे इस उत्तरदायित्वका निर्वहन निष्ठापूर्वक करें. सच तो यह है कि श्रीमहाप्रभुजीद्वारा निर्दिष्ट गुरुके सर्वलक्षणोंसे सर्वांशमें सम्पन्न यदि कोई हो सकता है तो वे केवल श्रीमहाप्रभुजी ही. तथापि, मार्गकी सिद्धान्तमर्यादाका भूलसे भी अतिक्रमण न हो जाये इस बातकी सावधानीके रूपमें श्रीवल्लभवंशजोंको श्रीमहाप्रभूक्त गुरुके लक्षणोंको यथासम्भव निभाये रखनेका सन्निष्ठ प्रयास करते रहना चाहिये. दीक्षा देते समय भी गुरुको मनमें ऐसा विनम्र भाव रखना चाहिये कि शिष्यका भगवत्सम्बन्ध तो श्रीमहाप्रभुजी ही करायेंगे, वह तो शिष्यको केवल श्रीमहाप्रभुजीके समक्ष पहुँचानेका पवित्रकार्य कर रहा है. श्रीवल्लभवंशजोंको 'गुरुद्वार' माना जाता है उसके पीछे भी यही भावना काम करती है. इस दृष्टिसे देखा जाय तो, सच्चे अर्थमें 'गुरुद्वार' वही श्रीवल्लभवंशज हो सकते हैं कि जो दीक्षार्थीको श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूप-चरित्रका एवं श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञारूप सिद्धान्तोंका यथार्थज्ञान कराते हैं और इस रूपमें अनुयायिओंको श्रीमहाप्रभुजी तक पहुंचाते हैं. इससे विपरीत जो श्रीवल्लभवंशज स्वार्थ अथवा किन्हीं और कारणोंसे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें परिवर्तन करनेकी कुटिल चेष्टा करते हैं और अपने शिष्योंको भी उलटे सिद्धान्तोंका पाठ पढाते हैं उनको गुरुद्वार नहीं परन्तु ठग ही समझना चाहिये.

गुरुके मनमें शिष्यके उद्धारके अतिरिक्त दूसरे किसी भी प्रकारकी कामना / भावना नहीं होनी चाहिये. उसी प्रकार शिष्यको भी — श्रीमहाप्रभुजी जैसे महान् गुरुके मार्गमें प्रवेश प्राप्त करनेका सौभाग्य उसको मिल रहा है, शरण तथा ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाओंको ग्रहण करनेपर उसे प्रभुका शरण ग्रहण कर पानेकी तथा प्रभुसेवा करनेकी योग्यता प्राप्त

होगी, दीक्षा पाकर वह लौकिक आसक्तिको छोड़कर अपना जीवन प्रभुसेवा-स्मरणद्वारा सार्थक करेगा —ऐसी शुद्ध-पवित्र और श्रद्धा-विश्वासपूर्ण भावना रखकर दीक्षा लेनी चाहिये.

वर्तमान समयमें दीक्षा लेनेवाले अधिकतर लोगोंमें इस प्रकारकी भावना देखनेको नहीं मिलती है. आधुनिक दीक्षार्थिओमें बड़े ही चित्र-विचित्र कारणोंसे दीक्षा ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति देखी जाती है. यथा, कोई इस कारणसे दीक्षाग्रहण करता है कि गांवमें अधिकतर लोग जब पुष्टिमार्गी वैष्णव हैं तब वह अकेला कहां सबोंसे अलग-सा रहेगा. कई लोग इसलिये दीक्षा ले लेते हैं कि यदि वे पुष्टिमार्गकी दीक्षा नहीं लेंगे तो उनका विवाह उस कन्या/पुरुषसे नहीं हो पायेगा कि जो वैष्णव है, अथवा वैष्णव सास-श्वसुरादि उनके हाथका बनाया खान-पान नहीं करेंगे. कुछ लोग बैठकजीमें झारी भरने मात्रके उद्देश्यसे अथवा किसी मन्दिरविशेषमें शाकघर-फूलघरकी सेवा करनेकेलिये ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया करते हैं. कुछ मुसीबतके मारे लोगोंको तो मन्दिर-हवेलियोमें नौकरी करनेकेलिये पुष्टिमार्गीय दीक्षा लेनी पड़ती है, जब कि कई जगह देखा जाता है कि पुष्टिमार्गके साथ उनको स्नान-सूतकका सम्बन्ध नहीं होता है. कई लोग अपने नवजात नाती-पोतोंको केवल इस भयसे ही दीक्षा दिलवा देते हैं कि अदीक्षित अवस्थामें मृत्यु हो जानेपर कहीं उन बालकोंकी अवगति न हो जाये. कई अत्यधिक (अन्ध) श्रद्धालु लोगोंको विविध प्रकारके दोरों-धागोंको गलेमें लटकानेका शौक सा होता है. उन्हें तो बस मालूम होना चाहिये कि कहां कण्ठी मिलती है; वे तुरन्त वहां पहुंच जायेंगे. कुछ लोग कुल/जातिधर्म समझकर पुष्टिमार्गकी दीक्षा ले लिया करते हैं. कुछ कथाकार तथा व्रजवासी जैसे लोग वैष्णवोंमें अपनी दुकानदारी चलानेकेलिये वैष्णव बन जाया करते हैं. कुछ लोग तो एक वल्लभवंशजसे दीक्षाग्रहण करनेके पश्चात् जब उनको यह पता चलता है कि परम्परागतरूपसे उनका परिवार तो किसी दूसरे वल्लभवंशजसे दीक्षाग्रहण किया करता था तब पुनः दूसरे वल्लभवंशजसे वही दीक्षा

दुबारा ले आते हैं (इस दुष्टपरम्पराका पोषण गुरुजनोंकी ओरसे भी होता है ऐसा देखा-सुना जाता है. ये लोग दीक्षामें श्रीमहाप्रभुजीकी कानिकी, खुदके गुरुद्वारत्वकी तथा प्रभुकी सन्निधिकी घोर उपेक्षा एवं अपमान ही करते हैं.). इस गणनाको और भी आगे बढ़ाया जा सकता है. तात्पर्य यह है कि दीक्षा लेने तथा देने के उल्लिखित सभी प्रकार स्वमार्गीय सिद्धान्त तथा परम्परा से सर्वथा विरुद्ध होनेसे निन्दनीय हैं, त्याज्य हैं.

दीक्षाका प्रभाव क्यों नहीं दीखता है?

जब कोई रोगी किसी चिकित्सकके पास जाता है तो औषधिके सेवनके परिणामस्वरूप हम उसको कुछ ही समयमें निरोगी और स्वस्थ होता देख सकते हैं. व्यायामशालामें जानेवाले दुबले-पतले आदमीको हम सशक्त होता देख सकते हैं. मूढ बालक भी विद्यालयमें जाकर मेधावी हो जाता है. इस तरह चिकित्सा व्यायाम या शिक्षा के कारण मनुष्यमें आते हुवे परिवर्तनोंका सुस्पष्ट अनुभव हम कर सकते हैं. आश्चर्यकी बात, परन्तु, यह है कि भगवानके नाममन्त्रकी अष्टाक्षर अथवा ब्रह्मसम्बन्ध जैसी देवदुर्लभ दीक्षाको प्राप्त कर लेनेपर भी अनेक (सच कहा जाय तो अधिकतर) लोग उसके प्रभावसे सर्वथा अप्रभावित नजर आते हैं. कुछ (तथाकथित) पुष्टिमार्गी तो ऐसे भी देखने मिलते हैं कि जो दुर्गुण उनमें दीक्षा लेनेसे पूर्व नहीं थे वे (परम भगवदीय होनेका अभिमान, अन्य वैष्णवोंसे प्रतिस्पर्धा, भगवानकी अलौकिक लीलाओंको आगे करके उसकी आड़में अपना वैषयिक स्वार्थ सिद्ध करना, भगवन्नाम तथा भगवत्स्वरूप का कथा-कीर्तन सेवा-मनोरथों के माध्यमसे व्यापार करना, गुरुद्रोह भक्तद्रोह आदि) दुर्गुण उनमें दीक्षा लेनेके पश्चात् पनपने लगते हैं. ऐसा क्यों होता होगा?

गम्भीरतापूर्वक यदि सोचा जाये तो श्रीमद्आचार्यचरणप्रोक्त दीक्षाप्रणालीकी उपेक्षा करनेका ही यह परिणाम समझमें

आता है. दीक्षाप्रणालीका विचार हम उसके छह अंगों सहित कर चुके हैं. दान देनेकी जो प्रणाली शास्त्र और सम्प्रदाय में निर्धारित की गई है उसका पालन दान करते / लेते समय यदि नहीं किया जाता है तो लिया और किया गया दान निष्फल जाता है. अतएव, गौतम तथा नारद ऋषिने कुछ दानको अदान अथवा अप्रामाणिकदान कहा है. यथा—

—बाल्य अर्थात् अपरिपक्व अवस्थामें किया गया दान,

—मूर्खतासे किया गया दान,

—मत्त या पागल अवस्थामें किया गया दान,

—लोभ / प्रत्युपकारकी भावनासे किया गया दान,

—मजाकमें किया गया दान,

—धोखेसे किया गया दान,

—जिस वस्तुको(यथा, मन्त्रको) देनेका अधिकार / योग्यता देनेवालेमें न हो उस वस्तुका दान,

—कुपात्र / अयोग्यको किया गया दान इत्यादि.

उपरोक्त सभी प्रकारके दानोंकी गणना अदान अथवा अप्रामाणिक दानमें की गई है. अर्थात्, उपरोक्त प्रकारसे अथवा परिस्थितिओंमें किया गया दान सच पूछा जाय तो हुवा ही नहीं है ऐसा समझना चाहिये. अतः उपरोक्त प्रकारसे किये गये दान निष्फल माने गये हैं. इन नियमोंको मन्त्रदानके विषयमें भी यथावत् समझना चाहिये. शास्त्रके इस निर्णयको यदि अच्छी तरहसे समझा जाये तो भगवन्नाममन्त्रका दुर्लभ दान प्राप्त करनेपर भी अनेक पुष्टिमार्गिओंके जीवनमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन क्यों नहीं दिखलाई देता है उसका कारण समझमें आ सकता है.

इस प्रकार, पुष्टिमार्गीय दीक्षादानके अंगोंके विचारपूर्वक दीक्षाका प्रकरण समाप्त होता है.

विशेष अध्ययनकेलिये :

—श्रीगट्टुलालाजीविरचित सत्सिद्धान्तमार्तण्ड.

—श्रीमहाप्रभुजीविरचित 'सिध्धान्तरहस्य'ग्रन्थकी श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित व्याख्या.

—श्रीमहाप्रभुजीविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थका सर्वनिर्णयप्रकरण एवं उसकी श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित 'आवरणभंग' व्याख्या.

—श्रीलालूभट्टजीविरचित 'प्रमेयरत्नार्णव'ग्रन्थका पुष्टिभक्ति-अधिकारविवेक.

—श्रीमहाप्रभुजीविरचित सिद्धान्तमुक्तावली.

—भगवद्गीताका १८वाँ अध्याय.

—दानमयूख.

—श्रीहरिरायचरणविरचित 'स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्'ग्रन्थके श्लोक ४९-५१.

—श्रीमहाप्रभुजीविरचित 'जलभेद'ग्रन्थ तथा उसपर श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्या, श्लोक ४.

—श्रीगोकुलनाथजीलिखित चौरासी तथा दोसौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता.

3. सेवामय जीवन

व्याख्या :

अपने घरमें भगवत्स्वरूपको पधराकर, उनको सुख पहुंचे उस प्रकार अपने घर-धन-परिवार आदि सर्वस्वको उनकी परिचर्यामें स्नेहपूर्वक समर्पण करते हुवे, प्रभुमें मन लगाना उसे पुष्टिभक्तिमार्गमें 'सेवा' कहा जाता है.

स्वभावभेदसे भक्तिभेद :

माहात्म्यज्ञानपूर्वक सबसे अधिक और सुदृढ स्नेह जब प्रभुमें होता है तब उस भगवत्स्नेहको 'भक्ति' कहा जाता है. भगवच्छास्त्रोमें प्रभुके माहात्म्यशाली स्वरूपका वर्णन उनके असंख्य गुण तथा चरित्र के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया गया है. प्रभुके ऐसे माहात्म्यशाली स्वरूपको जाननेके पश्चात्, स्वभाव भिन्न-भिन्न होनेके कारण अलग-अलग जीवोंमें प्रभुके प्रति अलग-अलग प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं. इसके फलस्वरूप वे प्रभुकी भक्ति भी अलग-अलग भावों तथा अपेक्षाओं से करनेको प्रेरित होते हैं. भगवानको भिन्न-भिन्न भावोंसे भजनेवाले भक्तोंका वर्णन खुद भगवानने किया है. तदन्तर्गत, अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु तथा ज्ञानी ऐसे चार तरहके भक्तोंका निरूपण गीताके सातवें अध्यायमें प्राप्त होता है.

अर्थार्थीभक्त :

भगवान् सर्वसमर्थ हैं, सबके नियामक हैं, वे ही फल देनेवाले भी हैं —— प्रभुके ऐसे गुणोंके प्रति आकर्षित होकर कुछ लालची स्वभावके लोग धन-सम्पत्ति सन्तान नौकरी स्त्री आदिकी कामनाओंको पूर्ण करनेकेलिए प्रभुकी भक्ति करने लगते हैं. ऐसे भक्तोंको भगवान् 'अर्थार्थी' (अर्थ = धन-सम्पत्ति आदि का + अर्थी = कामनावाला) कहते हैं.

आर्तभक्त :

संसारके दुःख - सुख को पीड़ाकारक समझनेवाले कुछ

लोगोंमें भगवानके प्रति कभी-कभी ऐसा भाव जग जाता है कि केवल भगवान ही मुझको इस दुःखद संसारसे छुड़ा सकता है. ऐसा भाव जगने पर वे लोग भगवद्भक्तिमें प्रवृत्त होते हैं. ऐसे भक्तोंको भगवान् 'आर्त' (दुःखी) भक्त कहते हैं.

जिज्ञासुभक्त :

भगवानके स्वरूपका यत्किञ्चित् ज्ञान होने पर कुछ लोगोंके मनमें उनके स्वरूपको और अधिक-पूर्णरूपसे जाननेकी इच्छा होती है. ऐसे भक्तोंको भगवान् 'जिज्ञासु' भक्त कहते हैं. एसे भक्त प्रायः ज्ञानमार्गीय उपासना-भक्तिद्वारा मुक्तिका मार्ग पकड़ते देखे जाते हैं.

ज्ञानीभक्त :

प्रभुके स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके कुछ लोग अपने आत्माको परमात्माके व्यापक स्वरूपमें लीन कर देनेकी अर्थात् मोक्षकी कामनासे प्रभुभक्ति करने लगते हैं. और कुछ ज्ञानीभक्त तो श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरा कोई भजनीय हो ही नहीं सकता है ऐसा जानकर प्रभुभक्तिमें लग जाते हैं. ऐसे भक्तोंको 'ज्ञानीभक्त' कहा जाता है.

अर्थार्थी आर्त और जिज्ञासु ——ये तीनों वैसे तो प्रभुभक्ति करनेवाले होते हैं, परन्तु उनकी भक्तिका केन्द्र-बिन्दु भगवान् न हो कर क्रमशः धन दुःखनिवृत्ति ज्ञान आदिरूप उनकी कामनाएं ही होती हैं. अतएव, इन तीनोंकी भक्ति स्वार्थप्रेरित-सकाम होती है. भक्तिमें यदि जरा-सी भी स्वार्थकी भावना आ जाती है तो उसके कारण भक्तिका स्वरूप विकृत हो जाता है. सकाम भक्त खुदकेलिये भगवानका भजन करता है, भगवानका भगवानकेलिये भजन नहीं करता है. अतएव, सकामभक्ति निन्दनीय मानी जाती है.

निर्गुण-पुष्टिभक्त :

उपरोक्त किसी भी प्रकारकी कामनाओंको मनमें रखकर की जाती भक्तिका स्वीकार भगवान् पुष्टिभक्तिमार्गमें नहीं करते हैं. अतएव स्वार्थसिद्धि (फिर वह मोक्ष ही क्यों न

हो) की भावनासे की जाती भक्तिको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने पुष्टिभक्तिमार्गमें अमान्य किया है. पुष्टिभक्तिमार्गमें तो प्रभु केवल वैसी ही भक्तिका स्वीकार करते हैं कि जिसमें भक्तको लौकिक पारलौकिक अथवा मोक्ष प्राप्तिकी भी कामना न हो. ऐसे शुद्धभावसे भक्ति करनेवाले भक्तोंको भगवान् सर्वश्रेष्ठ भक्त कहते हैं. पुष्टिभक्तके भावका वर्णन करते हुवे भगवान् श्रीभागवतमें आज्ञा करते हैं :—

> किसी भी तरहकी कामनाको मनमें रखे बिना निरन्तर मेरी भक्ति करनेवाले मेरे(पुष्टि) भक्त, मेरी सेवाके बदलेमें यदि उनको मुक्ति भी दी जाती है तो उसका भी स्वीकार नहीं करते हैं.

भगवानका सच्चा भक्त प्रभुसेवाकी तुलनामें मुक्तिको भी तुच्छ मानता है. भगवद्भक्तका तो जीवन ही प्रभुसेवा होता है. यही कारण है कि ऐसे भगवद्भक्तकी सर्वश्रेष्ठताका स्वीकार खुद भगवान् भी करते हैं. प्रभुकी ऐसी प्रसन्नताको प्राप्त करनेकेलिए श्रीआचार्यचरण 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थमें पुष्टिभक्तिमार्गिओंको उनका आवश्यक कर्तव्य समझाते हैं :—

कृष्णसेवा सदा कार्या

भावार्थ: सदा श्रीकृष्णकी सेवा करनी आवश्यक है.

प्रभुसेवा कर्तव्य नहीं है, आवश्यकता है :

सच कहा जाय तो श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार प्रभुसेवा जीवका कर्तव्य नहीं है / नहीं होनी चाहिये. वह तो जीवकी आवश्यकता, अनिवार्यता, स्वभाव है / होना चाहिये. 'कर्तव्य' शब्द प्रभुसेवाके स्वरूपका मूल्यांकन करनेमें छोटा पड़ता है.

प्राणिओंमें खाने-पीने तथा श्वसन की क्रियाएं उनके जीवनको टिकाए रखनेकेलिए स्वाभाविक और सहज - जन्मके साथ ही उनके साथ जुड़ी हुई होती हैं. किसी भी प्राणीको खाने-पीने अथवा श्वास लेनेकेलिए उपदेश नहीं देना पड़ता है. क्योंकि, अन्न जल और वायु के अभावमें उसका

जीवन टिक नहीं पायेगा इस तथ्यको जीवनके आरम्भसे ही वे जानते होते हैं. अतएव, खुदकी आवश्यकताके प्रति हर प्राणी सभान होता है. अन्न-जलादि जैसे प्राणीकी आवश्यकता होती है वैसे ही प्रभुसेवा-भक्ति पुष्टिजीवोंकी आवश्यकता होती है. श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिमार्गी यदि प्रभुसेवा नहीं करता है तो वह उसके अस्तित्वकी निरर्थकता मानी जायेगी. यहां पर एक शंका होती है कि जैसे अन्न-जलादि वस्तुओंकी आवश्यकताका अनुभव अज्ञानीसे अज्ञानी व्यक्तिको भी हो जाया करता है उस प्रकार भगवत्सेवाकी आवश्यकताका अनुभव सब पुष्टिजीवोंको क्यों नहीं होता है?

प्रभुसेवा-भक्तिकी आवश्यकताका अनुभव क्यों नहीं होता है?

इस शंकाका समाधान कुछ पूर्वभूमिकाकी अपेक्षा रखता है. जिस प्रकार जगतकी प्रत्येक वस्तु व्यक्ति या घटना के आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक यों तीन पहलू होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके जीवनके भी ये तीन पहलू होते ही हैं. ये पहलू वस्तुगत होनेके साथ-साथ विवक्षासापेक्ष भी होते हैं. अतएव, दृष्टिकोणके भिन्न होने पर यदा-कदा उनके निरूपणमें भी थोड़ा-बहुत भेद आता है. तथापि, संक्षेपमें यदि इन पहलूओंको समझा जाये तो :—

(१) आधिभौतिक = देहसम्बन्धि, बाह्य पहलू.

(२) आध्यात्मिक = मन बुध्धि चित्त अहंकार तथा अन्य इन्द्रियसम्बन्धि, आन्तर पहलू.

(३) आधिदैविक = जीवात्मासम्बन्धि, आन्तरतम-पहलू.

आधिभौतिक जीवन मनुष्यके जीवनका अतिबाह्य पक्ष होता है. तथापि होता अत्यन्त प्रभावशाली है. आध्यत्मिक जीवन भौतिक जीवनकी तुलनामें मनुष्यके जीवनका आन्तर पहलू है. आधिभौतिकता, परन्तु, मनुष्यके जीवनमें जब प्रबल हो जाती है तब आध्यात्मिकता दब जाया करती

है. आधिदैविक जीवन मनुष्यके जीवनका आन्तरतम पहलू होता है. आधिभौतिकताके प्रभाव तले आधिदैविकता भी दब जाया करती है. इन तीन पहलूओंके अनुरूप मनुष्यमें तीन प्रकारकी अपेक्षाएँ भी रही होती हैं:—

(१) आधिभौतिक अपेक्षा: प्राणवायु, आहार, पानी निद्रा आदि तथा इन्द्रियोंके भोग.

(२) आध्यात्मिक अपेक्षा: सन्तोष, दया, सहनशीलता इत्यादि तथा धर्मशास्त्रीय सदाचार.

(३) आधिदैविक अपेक्षा: भगवत्सेवा-भक्ति.

प्रभुसेवा-भक्ति मनुष्यकी आधिदैविक आवश्यकता होती है. रोगके प्रभावसे जिस प्रकार रोगीकी भूख दब जाया करती है उसी प्रकार आधिभौतिकताके दुष्प्रभावसे मनुष्यमें छिपी हुई आधिदैविक आवश्यकता प्रकट नहीं हो पाती है. यही कारण है कि अपनी इस आवश्यकताका अनुभव हर पुष्टिजीवको नहीं होता है. इस विषयको कुछ विस्तारसे समझना चाहिये.

आधिभौतिक आवश्यकता:

अन्न जल वायु आदि हमारे शरीरकी आवश्यकता होती है. इन आवश्यकताओंको आधिभौतिक आवश्यकता भी कहा जाता है. स्वस्थ मनुष्यको सामान्यतया ६-८ घन्टोंके पश्चात् आहारकी आवश्यकता महसूस होती है. परन्तु, वो ही मनुष्य जब अस्वस्थ हो जाता है तब भोजन लेनेमें उसकी रुचि कम हो जाती है. और कभी-कभी तो रुचि सर्वथा नहीं रह जाती है. ऐसी स्थितिमें रोगी तो यही समझता होता है कि उसको आहारकी आवश्यकता नहीं है. परन्तु, कृश-अशक्त होते हुवे उसके शरीरको देखनेवाले लोग इस बातको सरलतासें समझ सकते हैं कि रोगीके मनको सम्भवत: आहारकी आवश्यकता अनुभूत नहीं होती होगी पर उसके शरीरको तो आहारकी आवश्यकता है ही. रोगी मनुष्यके रोगका निवारण ज्यों-ज्यों होता जाता है त्यों-त्यों आहार लेनेमें उसकी रुचि बढ़ती जाती है.

प्रभुसेवा-भक्तिके विषयमें भी ऐसा ही होता है. आवश्यकता तो उसकी भी होती ही है परन्तु उसका अनुभव नहीं होता है.

आध्यात्मिक आवश्यकता:

सन्तोष दया सहनशीलता शुद्धि संयम अचौर्य (चोरी न करना) सत्य अक्रोध नीतिमत्ता इत्यादि गुण एवं शास्त्रीय आचार मनुष्यके मन तथा इन्द्रियों की आवश्यकताएं होती हैं. इन आवश्यकताओंको आध्यात्मिक आवश्यकता भी कहा जाता है. मनुष्य जब केवल भौतिक (पशु जैसी) दृष्टिसे अपने जीवनको देखने लगता है, स्वार्थैकपरायण हो जाता है, तब पूर्वोक्त गुण अथवा शास्त्रीय आचार का स्थान उसके काम क्रोध लोभ अज्ञान अभिमान ईर्ष्या जैसे दुर्गुण ले लेते हैं. उसके आचार विचार और वाणी स्वच्छन्द तथा निरंकुश हो जाते हैं. कभी-कभी इन दुर्गुणोंवाला तथा स्वच्छन्द-निरंकुश आदमी भी बाह्य दृष्टिसे सुखी प्रभावशाली अथवा कीर्तिमान् लग सकता है; परन्तु, मन तो उसका सतत अशान्त ही रहता है. ऐसे आदमीका जब उसके जैसे ही अथवा उससे भी अधिक दुर्गुणोंवाले व्यक्तिके साथ सामना होता है और उसके द्वारा जब इसका अहं खण्डित होता है तब, अथवा समाजद्वारा जब उसके दुर्गुणोंकी निन्दा किंवा उसका तिरस्कार होता है तब, अथवा खुदमें रहे हुवे दुर्गुणोंके कारण उसका मन अशान्त रहता है ऐसी उसको समझ आती है और इसके फलस्वरूप जब उसको अपनी भौतिक-पशुवृत्तिकी अनिष्टकारकता समझमें आती है तब, उसे दया सत्य प्रामाणिकता जैसे नैतिक गुण एवं शास्त्रीय सदाचारकी आवश्यकताका अनुभव होता है. मनुष्य जैसै-जैसै काम क्रोध आदि दुष्ट मनोवृत्तिओंका त्याग करता जाता है वैसे-वैसे उसकी निष्ठा नीति सदाचार जैसे गुणोंमें बढ़ती जाती है. नीति और सदाचार मनुष्यके मन-इन्द्रियोंको शुद्ध-शान्त बना देते हैं. प्रभुसेवा-भक्तिके विषयमें भी इसी तरह होता है.

आधिदैविक आवश्यकता :

भगवद्भक्ति पुष्टिजीवकी आधिदैविक आवश्यकता होती है. सन्तानको खुदके माता-पिताके प्रति जैसा सहज-स्वाभाविक आकर्षण होता है वैसा ही सहज-स्वाभाविक आकर्षण जीवमात्रका प्रभुके प्रति, उनका अंश = हिस्सा होनेके कारण, होता ही है. परन्तु, जैसा कि देखा ही जाता है, बच्चोंका सहज-स्वाभाविक आकर्षण माता-पिताके प्रति होने पर भी जब वे खेल-कूदमें मग्न हो जाते हैं तब कुछ समय तो अपने माता-पिताको भी भूल जाया करते हैं. उसी प्रकार जीव भी अज्ञानके कारण अहन्ता-ममताके सांसारिक खेलमें मग्न होकर अपने सर्वस्वरूप प्रभुको भूल जाता है. परन्तु, फिर भी भगवद्भक्ति पुष्टिजीवकी आवश्यकता तो रहती ही है. अतएव, जैसे बच्चे खेल-कूदमें कितने भी मग्न क्यों न हो कुछ समयके पश्चात् तो उनको अपने माता-पिताका स्मरण हो ही जाता है, उनके पास जानेकी व्याकुलता उनको होती ही है, उसी प्रकार संसार अथवा लौकिक-पारलौकिक सुख-दुःखोंमें भटकनेवाले जीवको भी कभी न कभी प्रभुके सान्निध्यकी आवश्यकता अनुभूत होती ही है. सन्तानको जो सुख माताकी गोदमें मिलता है, जो शान्ति-सुरक्षा पिताकी छत्रछाया तले मिलती है वैसे सुख शान्ति और सुरक्षा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकते हैं. इसी प्रकार पुष्टिजीवको भी परम अलौकिक चिरस्थायी आनन्द तो केवल भगवद्भक्तिमें ही मिल सकता है. क्योंकि, जीवकी आधिदैविक आवश्यकताकी पूर्ति उसीके द्वारा हो सकती है. यही तो कारण है कि लोक-परलोकके सुखोंको भोग लेने पर भी लोगोंकी भोगेच्छा पूरी नहीं हो पाती है, बढ़ती ही जाती है. एक सुख प्राप्त होनेपर उससे अधिक दूसरा सुख प्राप्त करनेकेलिये, दूसरा प्राप्त होनेपर तीसरा सुख प्राप्त करनेकेलिये —इस प्रकार अधिकसे अधिक सुख प्राप्त करनेकी लालसा और प्रयास में ही मनुष्यके अनेक जन्म व्यतीत हो जाते हैं. सच कहा जाये तो वे जिन अपूर्ण विषयोंके द्वारा अपनी

भोगेच्छाको सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न कर रहे होते हैं उन विषयोंकी कामना उन्हें होती ही नहीं है. उन्हें कामना-आवश्यकता तो होती है पूर्णानन्द-भजनानन्दकी, जो केवल भगवद्भक्तिसे ही प्राप्त हो सकता है. इस आधिदैविक आवश्यकताका ज्ञान, परन्तु, जीवोंको अहन्ता-ममता तथा अज्ञान के कारण नहीं हो पाता है और उसे पानेकेलिये जीव निरन्तर यहाँ-वहाँ भटकते ही रहते हैं. ऐसे जीवोंकेलिए श्रीआचार्यचरण सुबोधिनीकारिकामें आज्ञा करते हैं :—

गुप्तानन्दाः यतो जीवा निरानन्दं जगद् यतः ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः ॥

भावार्थ :जीवोंके अन्दर आनन्द छिपा हुवा होता है. जगतमें तो आनन्द होता ही नहीं है. अतएव, आनन्दप्राप्तिकी महेच्छा रखनेवाले जीवोंको तो श्रीकृष्णकी ही सेवा करनी चाहिये. क्योंकि, केवल श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्दस्वरूप हैं.

श्रीकृष्ण सत्-चित्-आनन्द धर्मवान् हैं. श्रीकृष्णने अपने स्वरूपमेंसे ही जीव एवं जगत् की उत्पत्ति की है. जीवोंमें, परन्तु, श्रीकृष्णने अपने आनन्द नामक गुणधर्मको छुपा दिया है. और जड़ जगतमेंसे श्रीकृष्णने अपने आनन्द गुणधर्मको तो दूर कर ही दिया है, चैतन्य गुणधर्म भी छुपा दिया है. अतः पूर्ण आनन्द तो श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकता है. तथापि, जीव एक-दूसरेमेंसे अथवा आनन्दरहित क्षणभंगुर जगतके पदार्थोंमेंसे आनन्द पानेकेलिये संघर्ष करते रहते हैं. वे अज्ञानी हैं, भ्रान्त हैं. मृगजलसे प्यास बुझानेकी आशा रखनेवालेकी प्यास जैसे कभी भी बुझ नहीं सकती है वैसे ही जगतमेंसे आनन्द खोजनेवालेको भी कभी सच्चा आनन्द मिल नहीं सकता है. (जगतके पदार्थोंमेंसे मिलनेवाला सुख अन्तमें पीड़ादायक ही सिद्ध होता है. अतः सच्चे अर्थमें तो वो सुख ही नहीं होता है इस विषयका विस्तृत विवेचन पुष्टिप्रवेश १-२ पृ.५४ पर कर दिया गया है.) अतएव, जिनको पूर्ण-अलौकिक सुख प्राप्त करना हो उनको तो श्रीकृष्णकी ही सेवा करनी चाहिये.

इस प्रकारका ज्ञान जब श्रीमहाप्रभुजी जैसे आचार्यद्वारा

अथवा भगवच्छास्त्रके अभ्यासद्वारा प्राप्त होता है तब ही अपनी सच्ची आवश्यकताका एवं उस आवश्यकताको पूर्ण करनेके साधनका ज्ञान हो सकता है. तो अब हम समज़ सकते हैं कि प्रभुसेवा, वस्तुतः, जीवोंका कर्तव्य नहीं होती है परन्तु सहज आवश्यकता / स्वभाव होती है.

प्रभुसेवाको जब कभी-कभी कर्तव्य धर्म अथवा फर्ज कहा जाता है तो उसका कारण यही होता है कि अज्ञानवश जो जीव प्रभुसेवासे विमुख हो गये हों वे कर्तव्य / फर्ज समज़कर भी प्रभुसेवामें प्रवृत्त हों. अथवा कर्तव्यका अर्थ 'फर्ज' किंवा "जिसको करना अनिवार्य हो" ऐसा नहीं परन्तु "करने योग्य" ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् पुष्टिजीवकेलिए प्रभुसेवाके अतिरिक्त करने योग्य अन्य क्या हो सकता है!—इस अर्थमें 'कर्तव्यं' शब्दका तात्पर्य समझना चाहिये. ऐसे सहजभावसे जब भक्त प्रभुसेवा करने लगता है तब प्रभु स्वयं पूर्ण होने पर भी भक्तके उस सहज भावका अनुभव करनेकेलिए तत्पर हो जाते हैं. अपने इस भावको व्यक्त करते हुवे भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं:—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

भावार्थ: जो भक्त मेरा जिस प्रकार भजन करते हैं, में भी उनको उसी तरहसे भजता हूँ (स्वीकार करता हूँ).

इस प्रकार हमने समझा कि प्रभुसेवा-भक्तिकी आवश्यकताका अनुभव क्यों नहीं होता है. अब उस आवश्यकताका अनुभव अर्थात् भक्तिभावका आविर्भाव किस प्रकार हो सकता है उसके उपायोंका निरूपण किया जा रहा है.

भावोद्बोधप्रकार:

१. भगवद्भक्तोंका संग २. भगवन्मार्गके आचार्यद्वारा किये गये उपदेशोंके श्रवण-पठन-मनन और ३. गीता-भागवत आदि भगवच्छास्त्रके ज्ञानसे जीवके हृदयमें प्रभुकी सेवा-भक्तिका भाव जागृत हो सकता है.

यदि प्रभुमें जरा-सी भी रुचि हो तो समझना चाहिये

कि प्रभुकी साक्षात् कृपाका ही यह परिणाम है. प्रभु उस जीवको अपने निकट लाना चाहते हैं. अतएव, जिस जीवके मनमें प्रभुके प्रति रुचि हुई है उसको खुदके ऊपर हुई प्रभुकृपाको फलित करनेकेलिये, अर्थात् प्रभुकी निकटता प्राप्त करनेकेलिये, भगवद्भक्तों तथा आचार्यों के संगद्वारा गीता-भागवत आदि भगवच्छास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर होना चाहिये. इसके द्वारा जीवको १. प्रभुके स्वरूपका ज्ञान २. स्वयंके स्वरूपका ज्ञान एवं ३. प्रभु और खुदके बीचके अनादिसिद्ध-सम्बन्धका ज्ञान होता है. यह ज्ञान ही जीवको सर्वस्वसमर्पणपूर्वक प्रभुसेवामें प्रवृत्त होनेकेलिए प्रेरित करता है.

भगवत्स्वरूपज्ञान :

श्रीकृष्ण ही जगतपिता हैं. समग्र जड़-जीवात्मक जगतकी उत्पत्ति करनेवाले श्रीकृष्ण ही हैं. श्रीकृष्ण ही प्राणीमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं. उनकी इच्छाके बिना जगतमें कुछ भी नहीं हो सकता है. देव-दानव-मानव एवं जड़पदार्थ प्रभुकी लीलाके खिलौने मात्र हैं. प्रभुके ऐसे स्वरूपका चिन्तन सत्संग एवं भगवच्छास्त्रके अभ्यास द्वारा करना चाहिये. साथ ही साथ यह भी सोचना चाहिये कि प्रभुने इस सृष्टिकी रचना खुदकी क्रीड़ाकेलिये ही की है. और जीव प्रभुकी क्रीड़ाका एक खिलौना-साधन मात्र है. अतएव जैसे खेलके उपकरण खिलाडीके अनुकूल हों तो ही खेलमें आनन्द आता है वैसे जीवोंको भी प्रभुकी प्रसन्नताकेलिये भगवदिच्छाके अनुकूल होनेका भाव रखकर इस जगतमें रहना चाहिये. श्रीमहाप्रभुजीने 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रन्थमें जैसे बताया है उस प्रकार प्रभुमें दृढ आश्रय रखकर विवेक और धैर्य रखकर रहना चाहिये.

जीवस्वरूपज्ञान :

जीवोंकी उत्पत्ति प्रभुने अपनेमेंसे ही की है. अतएव, भगवान् तथा जीव का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा होता है. इसी कारण जीवोंको प्रभुके अंश कहे गये हैं. अज्ञान तथा प्रभुसे अलग हो जाने के कारण जीवोंको प्रभुस्वरूपका,

अपने स्वरूपका, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका एवं प्रभुके प्रति अपने कर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता है. इसके परिणामस्वरूप जीव 'मैं' और 'मेरा' इस प्रकारकी अहन्ता-ममतामें लिप्त होकर प्रभुसेवारूप अपने कर्तव्यसे दूर हो जाते हैं. सत्संग एवं भगवच्छास्त्रके अभ्यासद्वारा जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके ऐसा सोचना चाहिये कि—

अपनी सन्तानको स्नेहपूर्वक पाल-पोसकर मातापिता जैसे उसको आत्मनिर्भर बनाते हैं उसी प्रकार परम स्नेही प्रभुने भी जीवोंको आंख-नाक आदि ज्ञानेन्द्रिय, हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रिय एवं मन-बुध्धि आदि अन्तःकरण देकर आत्मनिर्भर बनाया है. अतः जैसे सन्तान आत्मनिर्भर होनेपर अपने मातापिताके प्रति स्नेहाधीन होकर, उनके प्रति अपना कर्तव्य समझकर अथवा उनके उपकारका बदला चुकानेकी भावनासे भी माता-पिताकी सेवा करते ही हैं, उसी प्रकार जीवोंका भी यह कर्तव्य होता है कि परमपिता परमात्माके प्रति उनके मनमें जो भी भाव हों उन भावोंसे वे प्रभुकी सेवा करें.

जीवात्मा-परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान :

भगवद्भक्तोंका संग, भगवन्मार्गके आचार्यका उपदेश और गीता-भागवत आदि भगवच्छास्त्रके अभ्याससे भगवत्स्वरूप तथा जीवस्वरूपका ज्ञान तथा भगवान और जीवके अंश-अंशी (पिता-पुत्र) रूप सम्बन्धका ज्ञान सहजतासे हो जाता है.

भगवत्स्वरूप तथा जीवस्वरूप के ज्ञानसे तथा जीवात्मा-परमात्माके बीचके अंश-अंशी (पिता-पुत्र) रूप सम्बन्धके ज्ञानसे प्रभुसेवाकी आवश्यकताका भान हो सकता है इस विषयको हमने सविस्तार समझा. अब हम जीवोंकी आधिदैविक आवश्यकता-प्रभुसेवाके स्वरूपका विचार आरम्भ करते हैं. सेवा तथा समर्पण दोनों एक ही सिक्केके दो पहलू जैसे होते हैं. अतएव, समर्पणको पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा-साधनाकी नींव माना जाता है. अतः, सेवाके विषयमें विचारका आरम्भ करनेसे पूर्व समर्पणके स्वरूपका विचार किया जा रहा है.

समर्पणका स्वरूप

समर्पण = सुपुर्दगी :

श्रीमहाप्रभुजी 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं :

> निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः
>
> भावार्थः आत्मनिवेदन (ब्रह्मसम्बन्ध) करनेवालेका यह कर्तव्य है कि वह अपना सब कुछ प्रथम प्रभुको समर्पण करे, तत्पश्चात् ही अपने सर्व व्यवहार चलाये —ऐसा भक्तिमार्गका सिद्धान्त है.

यहां श्रीआचार्यचरण ब्रह्मसम्बन्धीको प्रभुको समर्पण करनेकी आज्ञा करते हैं. तब यह प्रश्न उठता है कि समर्पणका अर्थ क्या होता है? समर्पणका अर्थ होता है सुपुर्दगी. अपने पास रखी हुई किसी वस्तुको जब उसके असली मालिकको सौंप दी जाती है तब उसको 'सुपुर्दगी' कहा जाता है. तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो इस जगतमें जो कुछ भी जिसके भी पास है वह सब भगवान्का है और भगवानकेलिये ही है. इस वास्तविकताको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह उसकी अहन्ता-ममताके साथ जुड़ी हुई सर्व वस्तुओंको उसके सच्चे मालिक-भगवानको सुपुर्द कर दे. समर्पणका यही अर्थ होता है. इसी भावका वर्णन करते हुवे श्रीभागवतमें कहा गया है :

> भगवानने इस जगतकी रचना खुदकी क्रीड़ाकेलिये की है. ऐसा होनेपर भी दुष्टबुद्धिवाले जीव जगतमें इस प्रकार व्यवहार करने लगते हैं मानो यहाँ सब कुछ उनकेलिए ही है.

भागवतके इस वचनसे समझा जा सकता है कि तत्वदृष्टिसे देखा जाये तो इस सृष्टिमें जो भी कुछ है वो सब प्रभुका ही है और प्रभुकेलिए ही है. अतएव, भगवान् गीतामें सभी जीवोंको समर्पण करनेका आदेश देते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

भावार्थ: हे अर्जुन! तु जो भी कुछ (करोषि =) लौकिक कार्य करता है, जो कुछ भी (अश्नासि =) भोग भोगता है, जो कुछ भी (जुहोसि =) वैदिक कार्य करता है; अथवा जो भी कुछ तप करता है वो सब मुझको अर्पण कर दे.

प्रभुकी इस आज्ञाका आशय यह है कि अपने पास रही हुई सर्व वस्तुओंके सच्चे मालिक तो प्रभु ही हैं. अतएव, उन वस्तुओंका उपभोग करनेमें हम तब तक स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं जब तक कि उनका समर्पण प्रभुकी सेवामें कर नहीं दिया जाता. समर्पण किये बिना ही यदि हम किसी वस्तुका उपयोग अपने कार्यमें करने लगते हैं तो— जैसे स्वामीकी सेवाकेलिए सेवकको दी गई वस्तुका उपयोग कोई सेवक खुदके कार्यमें करने लगता है तो वह चोर समझा जाता है वैसे ही —हम भी हमारे अलौकिक स्वामीकी वस्तुके चोर कहे जाते हैं. हम जीवोंको ऐसा घोर अपराध न लगे तदर्थ श्रीमहाप्रभुजीने पुष्टिभक्तिमार्गमें आत्मनिवेदन एवं आत्मसमर्पण पूर्वक प्रभुसेवाका मार्ग दिखलाया है.

समर्पण = स्नेहका मापदण्ड :

समर्पण स्नेहका मापदण्ड (थर्मोमीटर) होता है. जो व्यक्ति जिसके प्रति जितनी अधिक समर्पित होगी उतना अधिक स्नेह उसका उस व्यक्तिकेलिए होगा ऐसा अनुमान किया जा सकता है. एक पिता अपने समय शक्ति सम्पत्ति आदिका समर्पण खुदके बच्चोंकी सुख-समृद्धिकेलिए कर देता है. पत्नी अपने पतिकेलिए खुदके मा-बाप-घर सब कुछ छोड़कर अपने तन-मन-धनको पतिको समर्पित कर देती है. विद्यार्थी अपना समय शक्ति खेल-कूद मौज-शौख विद्याप्राप्तिकेलिये खर्च कर देता है. इन सब दृष्टान्तोंमें हम देख सकते हैं कि पिताको बच्चोंके प्रति, पत्नीको

पतिके प्रति और विद्यार्थीको विद्याके प्रति जो स्नेह-आग्रह-लगाव होता है उसीके कारण वे अपना सब कुछ बच्चे, पति अथवा विद्या केलिए समर्पित कर पाते हैं. अतएव, समर्पण स्नेहका मापदण्ड होता है इस तथ्यको हम सरलतासे समझ सकते हैं.

भक्तिमार्ग जीवात्माको परमात्माके साथ स्नेहसम्बन्धसे जोड़नेवाला मार्ग है. भक्तिमार्गमें आकर जब कोई जीव प्रभुको आत्मसमर्पण करता है तब वो प्रभुसे डरकर अथवा प्रभुके माहात्म्यसे चमत्कृत होकर अथवा भिखारिओं जैसी लालचु वृत्तिसे नहीं करता है. वह तो परमात्माको आत्मसमर्पण तब करता है कि जब उसको परमात्मा तथा खुदके बीचके अनादिसिद्ध अंश-अंशी सम्बन्धका ज्ञान होता है. इस प्रकारका ज्ञान होने पर अंशी परमात्माके प्रति जीवके अन्दर छुपा हुवा आत्मसमर्पणका स्वाभाविक भाव प्रकट हो जाता है और वह उसी प्रकार अपने अंशीको समर्पित होनेके लिये तत्पर हो जाता है कि जिस प्रकार लम्बे समयसे बिछुड़ा हुवा कोई बालक माता-पिताको पाकर स्नहावेशमें आकर उनके गले लगनेकेलिये तत्पर हो जाता है. भक्तिमार्गीय समर्पणके पीछे यही मुख्य भाव छिपा हुआ होता है.

निवेदन और समर्पण :

निवेदनका अर्थ होता है जताना. आत्मनिवेदनका अर्थ होता है हमारा घर परिवार धन इहलोक परलोक देह आदिसे लेकर आत्मा पर्यन्त जो कुछ भी है वह सब प्रभुका ही है और प्रभुसेवाकेलिए ही है ऐसा प्रभुको जताना.

"हे प्रभु! अज्ञानवश मैं यह भूल गया था कि मैं आपका अंश-दास हूँ और आप मेरे स्वामि हैं. मेरे पास रही हुई सर्व वस्तुओंके सच्चे स्वामि आप ही हैं. फिर भी दुष्टबुध्धिवाला मैं उनको अपनी समझकर उनका उपभोग करता रहा हूँ. अब, परन्तु, मुझको वास्तविकताका ज्ञान हो गया है. अतएव, मैं अपने आपको तथा मेरी सब वस्तुओंको आपकी सेवामें समर्पित करनेका संकल्प

करता हूँ.'' इस प्रकारके भावोंको ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाद्वारा प्रभुसम्मुख प्रकट किया जाता है तब उसे 'आत्मनिवेदन' किया कहा जाता है.

आत्मनिवेदन / ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रभुको किया गया मौखिक समर्पण है, सर्वस्वका प्रभुको समर्पण करनेकी प्रभुसम्मुख ली गई प्रतिज्ञा है. जब कि समर्पण उस प्रतिज्ञाके पालनको कहा जाता है, मौखिक समर्पणको वास्तविक समर्पण बनानेकी रीतिको कहा जाता है. दीक्षाके समय प्रभुके सामने अपने मनोंभावोंको वाणीके माध्यमसे अभिव्यक्त मात्र किया जाता है. तदनुसार कुछ भी किया नहीं जाता है. इसके विपरीत समर्पणमें तो साक्षात् प्रभुको अपने घरमें पधराकर उनकी सेवामें, देह घर धन परिवार आदि, अपनी सकल अहन्ता-ममतास्पद वस्तु-व्यक्तिओंको जोड़ दिया जाता है. आत्मनिवेदनदीक्षा, पुष्टिभक्तिमार्गमें आत्मसमर्पणका अर्थात् तनुवित्तजासेवा करनेका अधिकार प्राप्त हो उसकेलिए दी जाती है. अतएव, आत्मनिवेदनदीक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् जो लोग आत्मसमर्पण नहीं करते हैं, अर्थात् प्रभुको घरमें पधराकर उनकी तनुवित्तजासेवा नहीं करते हैं, तो उन्होंने आत्मनिवेदन करनेका केवल ढोंग-दिखावा ही किया है ऐसा समझना चाहिये.

निवेदन-समर्पणकी दानसे भिन्नता :

आत्मनिवेदन तथा समर्पण के स्वरूपको हमने समझा. अब दानसे उसकी भिन्नता किस प्रकार है यह विचार करते हैं. दानका अर्थ होता है: देय वस्तुके ऊपरसे अपना स्वामित्व त्यागकर उसके प्राप्तकर्ताको उसका स्वामी बनाना. अर्थात्, स्वामित्वके हस्तांतरणकी प्रक्रियाको दान / भेंट कहा जाता है. यह प्रक्रिया भौतिक स्वामित्वके हस्तांतरणकी ही होती है.

निवेदन अथवा समर्पण के द्वारा प्रभुको कुछ भी दान / भेंट नहीं किया जाता है. आत्मनिवेदनके द्वारा तो हम और हमारी संपत्तिके ऊपर भगवानके आधिदैविक स्वामित्वका स्मरण करके, आत्मा तथा आत्मीय सकल वस्तुके ऊपरसे

हमारे स्वामित्वके अभिमानका, अर्थात् अपनेपनकी बुद्धिका, त्याग किया जाता है. भगवानके आधिदैविक स्वामित्वका ज्ञान हो जानेके पश्चात्, भगवानको किसी वस्तुका दान करनेकी अथवा हमारे भौतिक स्वामित्वके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है. क्योंकि, ऐसा करने पर भी वस्तुस्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता है. वह इसलिये कि जिस वस्तुका भगवानको निवेदन समर्पण अथवा दान नहीं किया गया हो उसके ऊपर भी भगवानका सम्पूर्ण स्वामित्व तो होता ही है.

भगवानको किसी वस्तुका दान करने पर स्थितिमें अन्तर हमारी भावना / संकल्पके परिवर्तनके कारण आता है. जिस वस्तुका हम भगवानको दान करते हैं उस वस्तुके विषयमें हमारी भावना ऐसी हो जाती है कि यह वस्तु केवल भगवानके ही उपयोगमें आये, हमारे उपयोगमें न आये. अतएव, दान करनेके पश्चात् हम उस वस्तुका उपयोग अपने कार्यमें नहीं कर सकते हैं. भगवानको दान की हुई वस्तुका उपभोग यदि हम हमारे कार्यमें करते हैं तो वह हमारी भावनाओंके बीच विरोधाभास माना जायेगा. क्योंकि, एक तो देना और फिर दी हुई वस्तुको वापस भी लेना यह विरोध नहीं है तो और क्या है? प्रभुको निवेदन / समर्पण करने पर ऐसा नहीं होता है. प्रभुको आत्मनिवेदन अथवा आत्मसमर्पण करनेका अर्थ होता है अपने आपको प्रभुका सेवक मानना. सेवकत्व स्वामीकी उच्छिष्ट / भुक्त वस्तुसे जीवन निर्वाह करने पर ही सिद्ध होता है. अतएव, भागवत गीता आदि भगवच्छास्त्रोमें दान तथा समर्पण यों दो पृथक् प्रकार भगवदाराधनके बतलाये गये हैं. 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थद्वारा भगवानने श्रीमहाप्रभुको पुष्टिभक्तिमार्गमें अपने आराधनका प्रकार समर्पणपूर्वक व्यवस्थित करनेका उपदेश दिया था. साथ ही साथ, असमर्पित वस्तुके उपयोगका त्याग करके केवल भगवानको समर्पित वस्तुओंसे ही जीवननिर्वाह करनेका उपदेश भी भगवानने दिया था. अतएव, पुष्टिमार्गीको समर्पण करके ही प्रभुसेवा करनी चाहिये.

समर्पण करनेसे पूर्व ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाद्वारा प्रभुको आत्मनिवेदन किया जाता है. आत्मनिवेदनके फलस्वरूप आत्मनिवेदीका एवं उसके घर परिवार धन सम्पत्ति आदिका अंगीकार करनेकेलिए प्रभु उसके परिवारके एक सदस्य जैसे बनकर उसके घरमें पधारते हैं. अविभक्त परिवारमें जैसे सब वस्तु समानस्वत्ववाली होती है, मेरा-तेरा नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मसमर्पणमें भी समझना चाहिये. प्रभु हमारे अलौकिक स्वामी होते हैं अतः, हमारी सभी वस्तुओंका समर्पण प्रभुकी सेवामें सर्वप्रथम करनेके पश्चात् ही किसी भी वस्तुका उपयोग हमें हमारे कार्यमें करना चाहिये इतना समर्पणमें वैशिष्ट्य होता है.

'सिद्धान्तरहस्य'ग्रन्थमें कहा गया है कि दानसम्बन्धि शास्त्रके वचनोंको भिन्नमार्गपरक मानना चाहिये. इस वचनाका सच्चा अर्थ नहीं समझनेके कारण कंई लोग, पुष्टिमार्गमें दान या देवद्रव्य जैसा कुछ होता ही नहीं है ऐसे उटपटांग विधान करते रहते हैं. इस विषयमें सैद्धान्तिक स्थितिको स्पष्टरूपसे समझ लेनी चाहिये.

शास्त्रमें दो तरहके विधान प्राप्त होते हैं; देवार्पित वस्तु प्रसादरूपसे ग्रहण की जा सकती है ऐसे तथा ग्रहण नहीं की जा सकती है ऐसे. शास्त्रके इन विधानोंके कारण दान और समर्पण के भेदको समझ न सकनेवाले कुछ लोग देवको समर्पित वस्तुको दान की हुई समझकर उस प्रसादको ग्रहण नहीं करते हैं, और वैसे ही कुछ अज्ञानी लोग देवको दान की हुई वस्तुको भी समर्पित मानकर उसको प्रसादरूपसे ग्रहण कर लेते हैं, जो कि ग्रहण नहीं करना चाहिये. और कुछ लोग तो कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी निर्णय ही नहीं कर पाते हैं. ऐसे अज्ञानी लोगोंको लक्ष्यमें रखकर भगवानने 'सिद्धान्तरहस्य'ग्रन्थद्वारा शास्त्रके उन वचनोंकी मार्गभेदसे व्यवस्था बतलाई है. भगवानके वचनका तात्पर्य यही है कि समर्पणकी प्रक्रियासे जिस वस्तुका विनियोग देवसेवामें किया जाता हो उस (समर्पित) वस्तुका महाप्रसादके रूपमें उपभोग करनेकी छूट समर्पणकर्ताको होती है. जिस

वस्तुका, परन्तु, दानकी प्रक्रियासे देवसेवामें विनियोग किया गया हो उस (प्रदत्त) वस्तुका उपभोग करनेकी छूट दानकर्ता या अन्य किसी को भी नहीं होती है. पुष्टिभक्तिमार्गमें तो प्रभुकी सेवा, क्योंकि, समर्पणपूर्वक करनेका ही सिद्धान्त है. अतएव, सेवाकर्ताको अपना निर्वाह प्रभुसमर्पित वस्तुसे ही चलाना चाहिये ऐसा नियम बनाया गया है. और इसीलिये दानसम्बन्धि शास्त्रवचनोंको भिन्नमार्गपरक माननेका भी उपदेश भगवानने दिया है. इसका अर्थ, परन्तु, ऐसा नहीं होता है कि पुष्टिमार्गमें दान अथवा देवद्रव्य जैसा कुछ होता ही नहीं है. क्योंकि, दानकी मनोवृत्ति / प्रक्रियासे यदि किसी वस्तुका प्रभुसेवामें विनियोग किया जाता है तब तो वह वस्तु देवद्रव्य कहलायेगी ही. और उस स्थितिमें उसका उपयोग नहीं ही किया जा सकेगा. अतएव, श्रीगुसांईजी 'नवरत्न'ग्रंथकी व्याख्यामें आज्ञा करते हैं

दाने हि न स्वविनियोगः

भावार्थः प्रभुको किसी वस्तुका दान करने पर उसका अपने कार्यमें विनियोग नहीं किया जाना चाहिये.

श्रीगुसांईजीके इस वचनसे यह धारणा, कि पुष्टिमार्गमें दान या देवद्रव्य नहीं होता है, निर्मूल हो जाती है.

समर्पण और अनन्यताः

अन्य किसी भी देवी देवता अथवा आत्मोद्धारके उपायोंमें श्रद्धा विश्वास निष्ठा अथवा भक्ति रखे बिना किसी एक ही देवमें रखी जाती निष्ठा श्रद्धा विश्वास अथवा भक्ति को 'अनन्यता' कहा जाता है. अनन्यताके बिना समर्पण नहीं हो सकता है. भगवान् गीतामें अनन्यताके स्वरूपको समझाते हुवे आज्ञा करते हैं:—

> सर्व कर्म मुझको अर्पण करके, मेरेमें परायण होकर, अनन्य योगसे मेरा ध्यान धरते हुवे जो मेरा ही भजन करते हैं, मेरेमें चित्तवाले ऐसे लोगोंका मैं थोड़े ही समयमें इस जन्म-मृत्युरूप

संसारसागरमेंसे उद्धार करता हूँ. अतएव, तू मेरेमें ही मन रख. बुद्धिका प्रवेश भी मेरेमें ही करा. ऐसा करनेसे तू मेरेमें ही रहेगा इसमें कोई भी संशय नहीं है.

बच्चोंको खेल-कूद बहोत ही प्रिय होते हैं. खेल-कूदके पीछे बच्चे कई बार तो खाना-पीना भी भूल जाते हैं. कई कलाप्रेमिओंने अपनी कलासाधनाके पीछे घरपरिवार तथा मित्रवर्गका भी त्याग कर दिया हो ऐसे बहुतसे उदाहरण सुननेको मिलते हैं. माता-पिता स्नेहवश अपने बच्चोंकी सुख-समृद्धिकेलिए अपनी सुख-सुविधाका जो त्याग करते होते हैं उसका कोई भी व्यक्ति सरलतासे अनुभव कर सकता है. देशभक्त सैनिक अपने देशकेलिए घर-परिवार सहित अपने प्राणका त्याग करनेमें भी संकोच नहीं करते हैं. इन सब दृष्टान्तोंसे समझा जा सकता है कि जहां स्नेह अथवा समर्पण होते हैं वहां अनन्यता भी होती ही है.

अनन्यता :

श्रीमहाप्रभुजी अनन्यताके स्वरूपको समझाते हुवे 'भक्तिवर्धिनी'ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं :—

> "संसारमें आसक्तिवाले जीवको जब प्रभुमें स्नेह हो जाता है तब उसकी संसारासक्ति दूर हो जाती है. उसका भगवद्स्नेह जब भगवदासक्तिमें रूपान्तरित हो जाता है तब प्रभुसम्बन्धरहित घर-परिवार आदिमें उसको अरुचि हो जाती है. और जब उसका स्नेह आसक्तिसे भी बढ़कर भगवद्व्यसनके रूपमें परिपक्व हो जाता है तब तो उसको प्रभुसम्बन्धरहित वस्तु अथवा व्यक्ति उसकी अनन्यता (व्यसन) में बन्धनकारक लगने लगते हैं. वे उसको इतने पराये लगने लगते है कि वो उनका परित्याग ही कर बैठता है".

ऐसी अनन्यता तो भक्त जब प्रभुभक्तिकी उच्च अवस्था पर पहुंचता है तब ही आ सकती है. स्वमार्गीय ग्रन्थोंमें, परन्तु, अनन्यता प्राप्त करनेके उपाय अवश्य बतलाये गये हैं. इन उपायोंके अन्तर्गत कुछ बातोंका त्याग बतलाया गया है. वे हैं :—

(१) अन्याश्रय (२) असमर्पितभोग
(३) दुःसंग (४) असद् आलाप-क्रिया-विचार.

इनके त्यागका हेतु, प्रभुमें स्नेह एवं अनन्यता बढाना ही होता है.

१. अन्याश्रयत्याग :

अन्याश्रयत्यागका निरूपण 'पुष्टि- प्रवेश—२'में विस्तार पूर्वक किया गया है.

२. असमर्पितभोगत्याग :

जिस वस्तुका उपयोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे प्रभुसेवामें नहीं हुवा हो उस वस्तुको पुष्टिभक्तिमार्गमें 'असमर्पित' कहा जाता है. ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाद्वारा समर्पित जीवनकी प्रतिज्ञा लेनेवाले पुष्टिभक्तिमार्गकिलिए असमर्पित वस्तुका त्याग करना अनिवार्य होता है. इस विषयमें श्रीआचार्यचरण 'सिद्धान्तरहस्य'ग्रन्थमें स्पष्ट आज्ञा करते हैं :

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्

भावार्थ: प्रभुको समर्पित न हुई हो ऐसी वस्तुमात्र सदोष होती है. असमर्पित वस्तुके उपभोगसे मन प्रभुसेवासे विमुख हो जाता है. अतएव, ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे पुष्टिभक्तिमार्गीको असमर्पितवस्तुके उपभोगका पूर्णरूपसे त्याग करना चाहिये.

३. दुःसंगत्याग :

जिस व्यक्तिके संगसे हमारेमें प्रभुके प्रति भक्तिभाव कम होता हो, घरमें प्रभुसेवा-समर्पण करनेमें रुचि-उत्साह कम होते हों, स्वमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययन-अध्यापनमें एवं उनका अनुसरण करनेमें निष्ठा कम होती हो ऐसे व्यक्तिके संगको दुःसंग समझना चाहिये. पुष्टिभक्तिमार्गीका यह कर्तव्य

है कि वो एसे लोगोंको दुर्जनतया पहचाने और उनका संग छोड़ दे. श्रीमहाप्रभुकी स्पष्ट आज्ञा है:

असत्संगो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः

भावार्थ: असत्संग अर्थात् दुःसंग कभी भी नहीं करना चाहिये. क्योंकि, दुःसंग करनेवाला भक्तिमार्गसे दूर हो जाता है.

४. असद् आलाप-क्रिया-विचार त्याग:

मनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्दी होती है. अतएव, मनको संयत कर पाना अति कठिन होता है. यही कारण है कि मनमें आनेवाले असद्विचारोंके ऊपर भी अंकुश लगाना चुनौती-सा बन जाता है. ऐसी स्थितिमें हमारे असद्विचारोंको अंकुशमें लानेका यदि कोई सरल उपाय है तो वह है हमारे वाणी तथा व्यवहारके ऊपर अंकुश लगाना. वाणीद्वारा हमारे विचार व्यक्त होते हैं. कोई हमारे विचारोंका समर्थन करता है तो कोई उनकी उपेक्षा करता है तो कोई निन्दा भी करता ही है. इन प्रतिक्रियाओंसे हमारे विचारोंको वेग मिलता है तथा वे अधिक विकृत भी होते हैं. अतएव, मनको संयत करनेके स्थान पर यदि हम अपनी वाणीको संयत कर सकते हैं तो विचारोंके ऊपर भी निश्चित रूपसे अंकुश लगाया जा सकता है. हमारा मन हम जो-जो कार्य करते हैं उससे भी प्रभावित होता ही है. हमारे व्यवहार जितने सीमित शास्त्रशुद्ध-सात्विक और प्रभुसम्बन्धि होंगे उतने ही सीमित शुद्ध-सात्विक तथा प्रभुसम्बन्धि हमारे विचार भी बनेंगे. अतएव, वाणीके साथ-साथ व्यवहार-कृति-आचारके ऊपर भी अंकुश लगाना आवश्यक होता है. अतएव, हमारे जो व्यवहार प्रभु / प्रभुकार्यसे सम्बन्ध न रखते हों उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये. श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं:—

वृथालापक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्

भावार्थ:निरर्थक (= प्रभुसम्बन्धि न हो ऐसा) बोलना, निरर्थक क्रिया तथा निरर्थक विचारों का सभी

प्रकारसे त्याग करना चाहिये.

मन लगने पर त्याग सहज हो जाता है:

विद्यार्थीकी स्वाभाविक रुचि जब विद्याभ्यासमें नहीं होती है तब उसके मनको स्थिर करनेकेलिए खेल-कूद, टी.वी., फिल्में, दुःसंग, मटरगस्ती आदिसे दूर रहनेकेलिये, अर्थात् विद्याभ्यासके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें ध्यान न देनेकेलिए, उसको समझाना पड़ता है. जब, परन्तु, विद्यार्थीका मन विद्याभ्यासमें लग जाता है तब किसी भी प्रकारकी रोक-टोकके बिना ही उसके खेल-कूद टी.वी.-फिल्में आदि सब स्वयं ही छूट जाया करते हैं. इसी प्रकार जब तक हमारा मन सहजतासे प्रभुमें नहीं लगता है तब तक अन्याश्रय, असमर्पितभोग, दुःसंग, असदालाप-ध्यान-क्रिया आदिका त्याग करवानेकेलिये गुरुको रोक-टोक करनी पड़ती है. ऐसी कच्ची अवस्थामें इन सब विषयोंका त्याग हमारेद्वारा प्रायः संकल्पपूर्वक अथवा नियमके रूपमें ही होता है. जब, परन्तु, स्वाभाविकरूपसे हमारा मन प्रभुमें लग जाता है तब अन्याश्रय आदि सर्व विषयोंका त्याग भी बड़ी ही सहजतासे हो जाया करता है.

यहां, परन्तु, एक प्रश्न विचारणीय बन जाता है. जैसे कि हमने पहले देखा, जब हमारा मन प्रभुमें लग जायेगा तब अन्याश्रय असमर्पितभोग आदि सब अपने आप छूट ही जानेवाले हैं तो फिर उनको छोड़नेके प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? —ऐसा यदि कोई सोचता है तो उसका पुष्टिभक्तिमार्गमेंसे अधःपतन ही होगा. क्योंकि, जैसे कोई विद्यार्थी ऐसा सोचता है कि उसका मन जब विद्याभ्यासमें लग जायेगा तब उसकी इतर सब प्रवृत्तियाँ स्वतः छूटने ही वाली हैं तब उनको छोडनेका प्रयत्न उसे क्यों करना चाहिये?! तो उसका क्या परिणाम होगा? हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि ऐसा सोचनेवाले विद्यार्थीका मन न तो कभी विद्याभ्यासमें लग सकता है और न वह विद्याभ्यासमें हानिकारक प्रवृत्तियोंको छोड़ ही सकता है. इसी प्रकार,

प्रभुमें अपने आप ही मन लग जानेकी आशामें यदि कोई वैष्णव अन्याश्रयादिका त्याग नहीं करता है तो न तो उसका मन कभी प्रभुमें लग सकता है और न ही उसके अन्याश्रयादि कभी छूट सकते हैं. यदि उसका कुछ भी होगा तो अधःपतन ही. अतएव, भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी कामना जिनको है उनको अन्याश्रय आदिका त्याग तो पहेलेसे ही कर देना चाहिये.

इस प्रकार, समर्पण तथा समर्पणमें अनन्यता विषयक विचार यहां समाप्त होता है. अब पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रभुसेवाके स्वरूपका विचार आरम्भ करते हैं.

४. सेवाका माहात्म्य

पुष्टिभक्तिमार्गीय साधना सेवा ही क्यों ?

हमारे शास्त्रोंमें दान व्रत तप जप तीर्थयात्रा प्रायश्चित्त ज्ञान कर्म आदिका श्रेयप्राप्तिके साधनके रूपमें वर्णन प्राप्त होता है. इतने सब शास्त्रीय साधनोंके होने पर भी पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनामें श्रीकृष्णकी स्वरूपसेवाको ही प्रमुखता देनेका क्या कारण हो सकता है ?

सर्व साधनाओंमें सेवा श्रेष्ठतम है :

उक्त प्रश्नका समाधान श्रीभागवतके एकादशस्कन्धमें वर्णित भगवान् तथा उद्धवजी के संवादमेंसे प्राप्त होता है. भगवान् आज्ञा करते हैं :—

> प्रतिक्षण वृद्धिंगत होती मेरी भक्ति मुझको प्राप्त करा सकनेमें जितनी समर्थ हो सकती है उतने समर्थ तो योग ज्ञान त्याग तप या वेदाभ्यास जैसे शास्त्रीय साधन भी नहीं हो सकते हैं. क्योंकि, मेरी प्राप्तिका एक मात्र साधन मेरी अनन्य भक्ति (= प्रेमपूर्विका सेवा) ही है.

भक्ति = प्रेमपूर्विका सेवा :

संस्कृतभाषामें 'भज्' (=सेवा) धातुसे 'भक्ति'शब्द बनता है. अतएव, 'भक्ति'का अर्थ माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रेमसे की जाती सेवा होता है. इतने स्पष्टीकरणके पश्चात् उपरोक्त श्रीभागवतके वचनका यदि विचार किया जाय तो, श्रेयप्राप्तिके जप-तप आदि सर्व उपायोंकी तुलनामें स्वयं भगवानने ही जब अपनी सेवाको श्रेष्ठतम गिनाया हो तब पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनामें प्रभुसेवाको यदि प्रमुख माना जाता हो तो उसमें आश्चर्यकी क्या बात हो सकती है ?

स्नेहसम्बन्धकी आवश्यकता : सेवा-समर्पण

पुष्टिभक्तिका मार्ग भक्त तथा भगवान् को स्नेहसम्बन्धसे जोड़नेवाला मार्ग है. स्नेहका ऐसा स्वभाव होता है कि

वह स्नेहिओंको परस्पर सम्पूर्ण समर्पित कराकर, एकदूसरेमें तन्मय कराकर ही छोड़ता है. यही कारण है कि जब एक व्यक्तिको किसी दूसरे व्यक्तिके प्रति स्नेह हो जाता है तब वह अपने स्नेहपात्रकी पूर्ण निकटता सदा चाहने लगता है. माता-बालक, पति-पत्नी तथा मित्र-मित्र के दृष्टान्तोंमें हम इस हकीकतको स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं.

माता तथा बच्चे को परस्पर उत्कट स्नेह होता है. थोड़ेसे समयकेलिये भी माता जब किसी अन्य कार्यमें व्यस्त हो जाती है तब भी मन तो उसका अपने बच्चेमें ही लगा रहता है. माताको अपने बच्चेसे इतना लगाव होता है कि उसका बच्चा पलभरकेलिये भी यदि उसके सामनेसे हट जाता है तो वह आकुल-व्याकुल हो उठती है. क्या हम ऐसी माताकी कल्पना कर सकते हैं कि जिसको अपने स्नेहपात्र-सन्तानके लालन-पालन करनेका अवसर मिलता हो फिर भी उस अवसरको छोड़कर वह अपने सन्तानके नामका जप करना अथवा उसके सामने आंखे बन्द करके उसका ध्यान धरना ही पसन्द करती हो? यदि ऐसा विचित्र व्यवहार करनेवाली कोई माता हमको मिल भी जाती है तो उसके ऐसे विचित्र व्यवहारको हम स्नेहप्रेरित मान सकेंगे? सन्तानके प्रति सच्चा स्नेह रखनेवाली माता तो ऐसा विचित्र व्यवहार कदापि कर ही नहीं सकती है.

इस दृष्टन्तकी सहायतासे अब हम यह समज सकते हैं कि प्रभुका सच्चा स्नेही-भक्त प्रभुकी सेवाको छोड़कर जप तप तीर्थ व्रत आदि उपायोंमें मोहित नहीं होता है. क्योंकि, उसके स्नेह-भक्तिभावकी अभिव्यक्तिकेलिये जप-तपादि साधन उसको अधूरे लगते हैं.

यहाँ एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है और वह यह कि स्नेहका ही दूसरा नाम भक्ति है. लौकिक व्यक्तिके प्रति होनेवाले हमारे मनके आकर्षणको 'स्नेह' 'प्रेम' 'अनुराग' जैसे शब्दोंसे कहा जाता है. ऐसा ही आकर्षण जब भगवानके प्रति होता है तब उसे 'भक्ति' कहा जाता है. यहां

इस सिद्धान्तको हमें दृढ़तासे समज लेना चाहिये कि भगवानके प्रति भक्ति मनुष्य अपने प्रयत्न/इच्छासे उत्पन्न नहीं कर सकता है. भगवानको जब किसी जीवसे स्नेहसंबंध बांधकर उसके भावका आनन्द लेनेकी इच्छा होती है तब स्वयं भगवान् ही उस जीवमें खुदके प्रति भक्तिका भाव जगा दिया करते हैं. ऐसे कृपापात्र जीवसे भगवान् यह अपेक्षा करते हैं कि वह जीव उन्हींका अनन्य स्नेही हो जाय तथा उन्हींको समर्पित हो जाय. अपने इसी मनोभावको व्यक्त करते हुवे भगवान् गीताके अन्तमें अर्जुनको आज्ञा करते हैं:—

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

भावार्थः सर्वगूढ वचनोंसे भी गूढ मेरा फलरूप वचन तू फिरसे सुन. तू मुझको बहोत ही प्रिय है, इसलिए तेरे हितकी बात कह रहा हूँ. तू मेरेमें मन लगा, मुझको ही आत्मा सहित सर्व आत्मीय वस्तु-व्यक्तिका समर्पण कर, मेरा ही सेवक बन. तू मुझको प्रिय है अतएव मैं तुझको सत्य कहता हूँ कि ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त करेगा.

इन वचनोंसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि भगवान् अपने प्रियजनोंसे प्रेमकी कैसी अपेक्षा रखते हैं! अतएव, प्रभुके प्रेमी भक्तजनोंको तो यदि प्रभुकी सेवा प्राप्त हो जाती है तो उनको सब कुछ प्राप्त हो गया ऐसा वे मान लेते हैं. और यदि प्रभुसेवा प्राप्त नहीं होती है तो उनकेलिये सब कुछ व्यर्थ होता है. जो, परन्तु, प्रभुके सच्चे भक्त नहीं होते हैं, जिनको भगवत्सुखके विचारके स्थान पर अपने सुख भोग कल्याण अथवा सुविधा का विचार ही अधिक होता है वे ही प्रभुसेवासे छूटनेका बहाना ढूंढते रहते हैं. भगवानका सच्चा भक्त कभी भी

ऐसा व्यवहार कर ही नहीं सकता है. जप-ध्यानादि साधनोंका भक्तकेलिए कोई विशेष मूल्य नहीं होता है यदि वो जप-ध्यानादि भगवत्सेवाविरहित हों. श्रीमद्आचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट प्रभुसेवाके स्वरूपका विचार किया जाय तो वह तो इतनी विलक्षण है कि ज्ञान कर्म योग जप त्याग तप तीर्थ आदि शास्त्रीय सभी उपायोंका समावेश उसीमें हो जाता है.

सर्व साधनाओंका समावेश सेवामें:

ज्ञान: भगवद्भक्तिको सुदृढ बनानेवाले प्रभुके दिव्य स्वरूप गुण एवं लीलाओं के ज्ञानको प्राप्त करना ही भक्तकेलिए सच्चा ज्ञान होता है.

कर्म: परम भगवदीयके रूपमें लोकमें होनेवाली भक्तकी प्रसिद्धि उसके भावकी विनाशिका सिद्ध हो सकती है. अतएव, भगवद्भक्त खुदके भगवदीय स्वरूप तथा अन्तर्निहित भगवद्भाव को गुप्त रखनेकेलिए निर्लिप्त-निःस्वार्थभावसे लौकिक-वैदिक कर्तव्योंका पालन किया करते हैं. ऐसा करनेसे लोकमें उनकी पहचान परम भगवदीयके रूपमें न होकर एक सज्जनके रूपमें ही हुवा करती है. इस प्रकार भक्तिके अंग समझकर किये जाते कर्म ही भक्तकेलिए सच्चे कर्म होते हैं.

ध्यान/योग: प्रभुमें अपना मन लगाकर सेवा करनेसे चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यान / योग स्वतःसिद्ध हो जाते हैं.

जप: प्रभुसेवा तथा अनवसर में प्रभुके स्वरूप गुण लीला तथा नामोंका कीर्तन-स्मरण-रटन भक्तकेलिए किसी मन्त्रके जपसे कम नहीं होते हैं.

त्याग: असमर्पितभोग, अन्याश्रय, असदालाप-क्रिया-ध्यान, लौकिकासक्ति एवं दुःसंगादि का त्याग ही भक्तकेलिए सच्चा त्याग होता है.

तप: असद् वाणी-विचार-व्यवहारके ऊपर संयम, दैहिक-मानसिक कष्ट तथा भक्तिमार्गीय फलकी प्राप्तिमें होते विलम्बजन्य आधिदैविक कष्ट को सहन करना ही भक्तका तप होता है.

व्रत-उपवास: कृष्ण-राम-नृसिंह-वामन जयन्ती एवं प्रत्येक एकादशी में निराहार रहकर प्रभुसेवा-स्मरण-कीर्तनमें तत्पर रहना तथा असमर्पितभोगादिका आजीवन त्याग करना यही वैष्णवके व्रत-उपवास होते हैं.

प्रायश्चित्त: सृष्टिके आरम्भसे लेकर अब तक जीवको अनेक बार देहके जन्म-मरण देखने पड़े होंगे. तथापि, अब जाकर उसको प्रभुसेवारूप अपने मूलभूत कर्तव्यका ज्ञान हुवा है. अतएव, अबसे वह प्रभुसेवा-स्मरणसे उसको दूर करनेवाले सर्व विषयोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेका निरन्तर प्रयास करता रहेगा ऐसा संकल्प ही भक्तका सच्चा प्रायश्चित्त होता है.

इस प्रकार, हमने यह देखा कि किस प्रकार कर्म ध्यान/योग जप आदि सर्व साधनोंका समावेश प्रभुसेवामें ही हो जाता है. कृष्णसेवाको पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनामें प्रमुखता देनेका एक कारण यह भी है ही.

अहन्ता-ममताकी शुध्धि सेवासे ही:

अहन्ता (मैं/मेरापन) तथा ममता (मेरा/) को सामान्यतः शास्त्रमें साधनामेंके सबसे बड़े प्रतिबन्धके रूपमें माना जाता है. अहन्ता-ममता के कारण ही हम भगवद्धर्मको भूलकर संसारमें डूबे रहते हैं. अहन्ताके कारण मनुष्य अपने अ... अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता है, वह स्वार्थपरायण बन जाता है. ममता मनुष्यको लालची भोगपरायण और असहिष्णु बना देती है. काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य जैसे दुर्गुण हमारी अहन्ता-ममताके ही विकार होते हैं.

अहन्ता:

अहन्ता, सामान्यतया, हमारे देहसे जुड़ी हुई होती है. मैं कौन हूँ? इस प्रश्नको पूछने पर पुरुष / स्त्री, पुत्र / पुत्री, पिता / माता, शिष्य / गुरु, छोटा / बडा, काला / गोरा, व्यौपारी / नौकर, शिक्षित / अशिक्षित, धनवान / गरीब अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि जो भी उत्तर मिल सकते

हैं वो हमारी अहन्ता (मैं / मेरापन) को ही जतानेवाले होते हैं. जिसे खुदकी अहन्ताका जितना अधिक भान होता है उतना ही अधिक वह उसमें फँसता जाता है. अहन्तासे अन्ध हुवे मनुष्यको यह ज्ञात नहीं होता है कि वह जिस अहन्तासे आनन्दित होता है वह अहन्ता उसकी उस जड़ देहके आधार पर टिकी हुई होती है कि जो स्वयं नाशवन्त है, क्षणिक है. अतएव, अहन्ताके (धनवान-गरीब नौकर-मालिक जैसे) आवरणोंको टिकाए रखनेकेलिए अथवा प्राप्त करनेकेलिये हम जो तनतोड़ परिश्रम करते रहते हैं उसके ऊपर पलभरमें पानी फिर सकता है, बस इस देहमेंसे आत्माके निकल जानेकी देर है. अतएव, इस नाशवन्त देहके ऊपर आश्रित नाशवन्त अहन्ताके पोषण-रक्षणमें परिश्रम करनेके स्थान पर मनुष्य यदि प्रभुके अंशरूप अविनाशी सनातन जीवात्माका प्रभुभक्तिद्वारा पोषण-रक्षण करता है तो वह इस संसारसागरको पार कर सकता है. देहकेलिए किये जाते सभी यत्न देहावसानके साथ नष्ट हो जाते हैं. परन्तु, जीवात्माके उत्कर्षकेलिए किये जाते यत्न, देहके चाहे कितने भी जन्म-मरण क्यों नहीं हो जाते, जीवात्माके साथ ही सनातनकाल तक बने रहते हैं. इसीको लक्ष्यमें रखकर श्रीआचार्यचरणने अहन्ताके आश्रयभूत हमारे देहका पुष्टिमार्गीय सेवा-साधनामें विनियोग करनेकी आज्ञा की है. "मैं कृष्णका दास हूँ" ऐसी अलौकिक अहन्ताके साथ अपने देहसे प्रभुकी सेवा करनेसे लौकिक अहन्ताका, जो कि अनिष्टकारक होती है, लोप हो जाता है.

ममता :

मनुष्यको ममता अपने घर-परिवार धन-सम्पत्ति आदि आत्मीय पदार्थोंमें होती है. घर-परिवार धन-सम्पत्ति आदि ममतास्पद विषय मनुष्यको अपनी ओर खींचकर रखते हैं, उसे दूसरा कुछ करनेका अथवा सोचनेका मोका ही नहीं देते हैं. इसी कारण शास्त्रोंमें घर-परिवार आदिको ऐसे अन्धेरे कूपके समान माना गया है कि जिसमें फंसनेके

पश्चात् वहांसे कभी भी वापस आया न जा सकता हो. मनुष्यके आत्मकल्याणमें ममता भी एक बड़ी समस्या होती है. प्रभुभक्तिमें अड़चनरूप बननेवाली इस ममताको भक्तिसाधिका भी बनाया जा सकता है यदि हमारे ममतास्पद परिवार घर धन सम्पत्ति आदि विषयोंको प्रभुकी सेवामें प्रयुक्त कर दिया जाये. इसीको लक्ष्यमें रखकर श्रीमहाप्रभुजीने हमारे ममतास्पद घर परिवार धन सम्पत्ति आदि पदार्थोंका प्रभुकी सेवामें उपयोग करनेकी आज्ञा की है.

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा-साधना मनुष्यके आत्मकल्याणमें बाधक बननेवाली अहन्ता एवं ममता दोनोंको साधक बना देती है. आत्मनिवेदनपूर्वक प्रभुसेवा करनेसे लौकिक अहन्ताका नाश हो जाता है. उसके स्थान पर "मैं प्रभुका दास हूँ" ऐसी अलौकिक अहन्ताका जन्म होता है. उसी तरह आत्मसमर्पणपूर्वक घर-परिवार धन-सम्पत्ति आदि विषयोंका प्रभुसेवामें विनियोग करनेसे उन-उन विषयोंमें रही हुई लौकिक ममताका भी नाश हो जाता है. उसके स्थान पर "यह घर-परिवार धन-सम्पत्ति आदि सर्व पदार्थ मेरे प्रभुके हैं तथा प्रभुकेलिए हैं" ऐसी अलौकिक ममताका जन्म होता है. जितनी बाधक तथा अनिष्टकारक लौकिक अहन्ता-ममता होती है उतनी ही इष्टसाधक अलौकिक अहन्ता-ममता होती है. मनुष्यकी अहन्ता-ममताका इतना सुन्दर शुद्धीकरण / उदात्तीकरण करनेकी क्षमता प्रभुकी सेवा-भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी साधनोंमें नहीं है. ज्ञान कर्म आदि सभी उपाय एकांगी / अधूरे उपाय हैं. यह भी एक कारण है पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनामें प्रभुकी स्वरूपसेवाको प्रमुखता देनेका.

भगवत्सेवक उत्तमोत्तम योगी :

भगवत्सेवा करनेवालेकी उत्तमोत्तमताका वर्णन करते हुवे भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं :

तपस्वीसे श्रेष्ठ तपयोगी होता है, ज्ञानयोगी
ज्ञानिओंसे भी उत्तम होता है, कर्म करनेवालोंसे

कर्मयोगी अधिक होता है. और सब योगिओंमेंसे जो मुझको आत्मसमर्पण करके श्रद्धापूर्वक मेरी सेवा करता है उसको तो मैं सर्वोत्तम मानता हूँ.

भक्तको वही करना चाहिये जो उसके आराध्यको प्रिय लगता हो. सेवकका वही कर्तव्य होता है जिससे उसके स्वामिको सुख हो. गीताके उपरोक्त वचनमें भगवानने उनकी सेवा करनेवाले भक्तको दूसरी किसी भी साधना करनेवालेकी तुलनामें श्रेष्ठ माना है. प्रभु स्वयं ही जब सेवा करनेवालेको उत्तमोत्तम गिनाते हों तब सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी साधनाको प्रमुखता कैसे दी जा सकती है?

५. सेवास्वरूप

कृष्णसेवाका स्वरूप :

श्रीमदाचार्यचरण 'सिद्धान्तमुक्तावली'ग्रन्थमें कृष्णसेवाका स्वरूप समझाते हैं—

चेतस्तत्प्रवणं सेवा

भावार्थः चित्त भगवत्सेवामें ही मानो मालामें मोती पिरोया हो ऐसा प्रवण हो जाये तब सेवाका स्वरूप संपन्न होता है.

वहीं श्रीआचार्यचरणने सेवा करनेवाले सेवककी अवस्थाके भेदसे इस कृष्णसेवाकी दो कक्षाओंका भी निरूपण किया है: (१) फलरूपा सेवा = मानसी (२) साधनरूपा सेवा = तनुवित्तजासेवा.

(१) फलरूपा सेवा मानसी :

सेवा करनेवालेका मन प्रभुके अतिरिक्त और कहीं भी न जाकर जब केवल प्रभुमें ही सहजतासे लग जाता है तब भक्तसे उस अवस्थामें होती सेवाको 'फलरूपा सेवा' किंवा 'मानसीसेवा' कहा जाता है. कुछ लोग प्रयत्नपूर्वक मनमें ही प्रभुको जगाने, स्नान कराने, भोग धरने, पौढाने आदिकी भावना करते हैं और उसीको मानसीसेवा समझ लेते हैं. मानसीसेवाके नामपर इस तरहके दूसरे अनेक प्रकार सम्प्रदायमें प्रचलित हैं. उन प्रकारोंको, परन्तु, मानसीसेवा नहीं समझना चाहिये. उन प्रकारोंको अधिकसे अधिक ध्यानका कोई प्रकार माना जा सकता है. पारिभाषिक अर्थमें तो मानसीसेवाका सच्चा स्वरूप वही है जो ऊपर व्याख्यामें दिखाया गया है.

(२) साधनरूपा सेवा तनुवित्तजासेवा :

चित्तकी प्रभुप्रवणता जिससे प्राप्त होती है उस साधनको 'तनुवित्तजासेवा' अथवा 'साधनरूपा सेवा' कहा जाता है.

तनुवित्तजा = सर्वस्वसमर्पण :

आत्मनिवेदन दीक्षाके समय दीक्षार्थी आत्मा सहित

खुदके देह घर परिवार धन-सम्पत्ति आदि सर्वस्वका निवेदन प्रभुको कर देता है. आत्मनिवेदनदीक्षाद्वारा दीक्षार्थी प्रभुके सामने ऐसा संकल्प करता है कि :

हे प्रभु! मैं आपका अंश हूँ, जन्मना मैं सहज दास हूँ. मेरे पास रही हुई सर्व वस्तुएँ, कि जिनको मैं अब तक मेरी अपनी समझता आया हूँ और उसी तरह उसका उपभोग भी करता रहा हूँ, उन सभीके सच्चे मालिक तो आप ही हैं. अतएव, मेरा कर्तव्य तो आपको सर्वस्वका समर्पण करके आपकी सेवा करना ही है. अतः मैं मेरे देह परिवार घर धन-सम्पत्ति आदि सर्ववस्तुको आपकी सेवार्थ आपको अर्पण करता हूँ.

इस प्रकार मौखिक रूपसे किये गये अर्पण को 'निवेदन' (जताना) कहा जाता है. मौखिक रूपसे निवेदित की गई वस्तुओंका उपयोग जब प्रभुको घरमें पधराकर उनकी सेवामें साक्षात् रूपसे किया जाता है तब उसे 'समर्पण' हुवा कहा जाता है. इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभुको निवेदन की गई वस्तु भी तब तक असमर्पित ही रहती है जब तक कि उसका समर्पण प्रभुसेवामें नहीं किया जाता है. यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि जिसने ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्राप्त की हो उसको असमर्पित सर्ववस्तुका पूर्णरूपसे त्याग करना होता है.

सर्वस्वके समर्पणका उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थमें किया है :

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थितिः।

भावार्थ: जिन्होंने प्रभुको आत्मनिवेदन किया है उनको अपने सभी कार्य तथा सभी वस्तुका उपभोग प्रथम प्रभुसमर्पित करनेके पश्चात् ही करना चाहिये ऐसा सिद्धान्त है.

तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्

भावार्थ: सर्वकार्यके आरम्भमें ही सर्व वस्तुका समर्पण प्रभुको कर देना चाहिये.

'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थमें उपदिष्ट यह सर्वस्वसमर्पण ही

तनुवित्तजा सेवाका तात्पर्यार्थ है.

तनुजा, वित्तजा नहीं; तनुवित्तजा :

'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभुजीने समझाया है कि तनुवित्तजासेवा ही हमारे मनको प्रभुमें लगानेका उत्तम उपाय है. यहाँ 'तनु' और 'वित्त' का अर्थ, सामान्यतया, देह और धन समझा जाता है. यहाँ, किन्तु, यह स्मरणीय है कि तनुवित्तजासेवाका सच्चा अर्थ 'सिद्धान्तरहस्य'ग्रन्थोक्त सर्वस्वसमर्पणमें निहित है. अतएव, यदि 'तनु'का अर्थ मात्र देह तथा 'वित्त'का अर्थ मात्र धन ही किया जाता है तो आत्मनिवेदनदीक्षाके समय प्रभुको निवेदित किये गये इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अन्तःकरणके धर्म, पत्नी / पति, पुत्र / पुत्री, परिवार, घर, सम्पत्ति आदिका तो समर्पण करना शेष ही रह जाता है. अतएव, 'तनु'शब्दसे देहके साथ-साथ इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार), उसके धर्म आदि तथा 'वित्त'शब्दसे धनके साथ-साथ घर परिवार सम्पत्ति आदि सर्व पदार्थ समझने चाहिये. सर्वस्वका प्रभुसेवामें समर्पण ही तनुवित्तजाका सच्चा अर्थ होता है इस बातको समझाते हुवे श्रीप्रभुचरण 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थकी व्याख्यामें आज्ञा करते हैं :—

> किसी भी प्रकारके (लालच, दम्भ, प्रतिष्ठा धनकी कामना अथवा प्रतिस्पर्धा जैसे) लौकिक भावोंको मनमें न रखते हुवे अपना सर्वस्व भगवानको निवेदित करके अपने देहका भी विनियोग जब प्रभुसेवामें किया जाता है तब प्रभुमें प्रेम प्रकट होने पर चित्त कृष्णप्रवण बन जाता है.

श्रीगुसांईजीके उपरोक्त कथनानुसार सर्वस्वका प्रभुसेवामें समर्पण तब ही शक्य बन सकता है कि जब हमारे तनु (= देहादि) तथा वित्त (= पैसा, घर आदि) दोनोंका एकसाथ प्रभुसेवामें विनियोग किया जाय. श्रीगुसांईजीके उपरोक्त वचनका तथा वर्तमान समयमें हवेलि-मन्दिरोमें चलते सेवाप्रकारका अवलोकन करने पर विचारणीय दो परिस्थितियां उभरकर

सामने आती है.

एक परिस्थिति: एक व्यक्ति किन्हीं कारणोंसे खुद प्रभुसेवा नहीं कर सकता है, अतएव, वह चाहता है कि घरमें नौकर रखकर उससे सेवा कराये; अथवा भाड़ूती सेवा करनेकी सुविधा प्रदान करनेवाले किसी गोस्वामीकी हवेली / मन्दिरोमें भेंट-सामग्री पधराकर सेवा-मनोरथ कराये और खुद दर्शनका आनन्द लेता रहे. (अर्थात् पैसे कोई एक दे और श्रीठाकुरजीकी सेवा कोई दूसरा, मुखिया / महाराज करे)

दूसरी परिस्थिति: अपने घर, हवेली अथवा मन्दिर में सेवा करनेवाले (वैष्णव, गोस्वामी अथवा मुखिया) भाड़ूती सेवा कराने इच्छुक किसी व्यक्तिके पाससे वेतन लेकर अथवा प्रसंगोपात्त भेंट-सामग्री-न्योछावर लेकर खुद सेवा करते हैं. (अर्थात् सेवा कोई एक करता है और सेवाका खर्च कोई दूसरा देता है)

इन दोनों परिस्थितिओंका अवलोकन करने पर कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं. क्या किसीको सेवार्थ धनादि देकर कराई जाती भाड़ूती प्रभुसेवासे अथवा दूसरेके पाससे धनादि लेकर की जाती भाड़ूती सेवासे सेवा करनेवालेका मन प्रभुप्रवण हो सकता है? अथवा, क्या ऐसे भाड़ूती व्यवहारोंको पुष्टिभक्तिमार्गमें 'सेवा' कहा जा सकता है? क्या ऐसी प्रक्रियाओंको पुष्टिभक्तिमार्गमें किसी भी पूर्वाचार्योंद्वारा मान्य किया गया है?

पिछले कुछ समयसे सम्प्रदायके गुरुओंद्वारा पूर्ववर्णित प्रकारोंको क्रमशः वित्तजासेवा तथा तनुजासेवा के नामसे बहुप्रचारित किया जा रहा है. इस विषयमें, परन्तु, ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीमहाप्रभुजी श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीगुसांइजी के ग्रन्थोंका अथवा अन्य भी किसी पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका सूक्ष्मतासे अवलोकन करने पर भी, उनमें कहीं भी पूर्वोक्त प्रकारोंका किसी भी तरहका समर्थन तो प्राप्त नहीं ही होता है, सर्वत्र निषेध और निन्दा ही देखनेको मिलती है. सिद्धान्तग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त प्रकारोंको

'सेवा' माना ही नहीं जा सकता है. इसका समर्थन हमें श्रीगुसांईजी विरचित 'सिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थकी विवृतिमेंसे सुस्पष्ट शब्दोमें प्राप्त होता है:—

> पैसा (भेंट सामग्री या वेतन) देकर किसी दूसरे मनुष्यद्वारा (मन्दिर हवेली या घर में) कराई जाती सेवा सेवाका एक प्रकार है; तथा इस प्रकार सेवाकेलिए किसी दूसरे मनुष्य (मनोरथी आदि) के पाससे पैसा (भेंट सामग्री न्योछावर) लेकर की जाती सेवा वह सेवाका दूसरा प्रकार है. इन दोनों प्रकारोंसे (अर्थात् किसीसे पैसे लेकर या किसी को पैसे देकर) की / कराई जाती सेवासे चित्त कभी भी कृष्णप्रवण नहीं बन सकता है. (श्रीप्रभुचरण आगे आज्ञा करते हैं) अपने इस अभिप्रायको प्रकट करनेकेलिए ही श्रीमहाप्रभुजीने ('तनुजा' 'वित्तजा' ऐसे दो अलग-अलग शब्दोंका प्रयोग न करके) 'तनुवित्तजा' यों एक समस्तपदका प्रयोग किया है.

श्रीप्रभुचरणके उक्त वचनसे एवं श्रीआचार्यचरणके 'तनुवित्तजा' इस समस्त पदके प्रयोगसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसीको भेंट-सामग्री अथवा वेतन देकर कराई जाती सेवाको तथा इस प्रकार किसीसे भेंट-सामग्री अथवा वेतन लेकर की जाती सेवाको पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाके रूपमें किसी भी तरह मान्य नहीं किया जा सकता है.

पुष्टिभक्तिमार्गमें प्रभुकी सेवा खुदको प्रभुका सेवक मानकर की जाती है. सेवक उसे कहा जाता है कि जो अपने स्वामीकी सेवा स्वयं ही करता हो. जो व्यक्ति खुद सेवा न करता हो, परन्तु, किसी औरसे सेवा कराता हो वह तो सेवक ही नहीं रहा, वह तो मालिक बन गया! इसी प्रकार जो स्वधर्म समझकर खुद सेवा न करता हो परन्तु किसीके कहनेसे, विवश होकर अथवा पैसा-प्रतिष्ठा पानेकी लालचसे सेवा करता हो उसे भी सेवक नहीं कहा जा सकता है. उसे तो वेतनलोभी नौकर या व्यापारी ही कहा जाता है. इतनी छोटी बात भी यदि हमारी

समझमें आ जाती है तो अलग-अलग की जाती तनुजा तथा वित्तजा सेवा वस्तुतः सेवा ही नहीं है यह समझमें आ सकता है.

सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध एवं अद्वितीय विद्वान श्रीपुरुषोत्तमजी उपरोक्त श्रीप्रभुचरणके वचनोंका व्याख्यान करते हुवे स्पष्ट शब्दोमें चेतावनी देते हैं कि ऐसे काल्पनिक प्रकारोंसे सेवा करनेवालोंको सेवाका फल तो नहीं ही मिलता है, विपरीत फल ही मिलता है:

> पैसा (भेंट-सामग्री न्योछावर आदि) देकर अन्य किसी (मुखिया भीतरिया या गोस्वामी आचार्य) के द्वारा जो प्रभुसेवा कराते हैं वे अहंकारी बन जाते हैं. उनका मन कभी भी प्रभुमें लग नहीं सकता है. उसी प्रकार, सेवा करनेके पारिश्रमिकके रूपमें पैसे (भेंट-सामग्री, न्योछावर) लेकर (हवेली-मन्दिरोमें जैसे मुखिया-महाराज किया करते हैं वैसे) यदि तनुजासेवा की जाती है तो यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणको जैसे यज्ञका फल नहीं मिलता है वैसे ही ओरोंके पैसेसे सेवा करनेवाले (मुखिया भीतरिया या गोस्वामी आचार्यों) का मन भी प्रभुमें नहीं लग सकता है. और फिर भक्तिमार्गमें भगवानने इस प्रकारकी भाड़ूती सेवा करने या कराने का कहीं उपदेश भी तो नहीं किया है. अतएव, उक्त भाड़ूती प्रकारोंसे प्रभुकी सेवा न करके भगवानने (श्रीभागवतमें उद्धवजीको उपदेश देते हुवे आत्मनिवेदन करके, मनमें दासपनेकी भावना रखकर, प्रभुको सर्वस्वका समर्पण करके, खुद ही प्रभुसेवा करने की जो) आज्ञा की है तदनुसार ही सेवा करनी चाहिये. इस तरह, भगवदुपदिष्ट प्रकारसे, यदि सेवा की जाती है तो साधनरूपा तनुवित्तजासेवा फलरूपा मानसी सेवाकी प्राप्ति करा सकती है.

निष्कर्षतः (१) पराये धनसे तनुजा सेवा करनेवाला, देवदुर्लभ परमधर्मरूप प्रभुसेवाको धन्धा बनानेके कारण पापी 'देवलक' बनता है. (२) वित्तजा सेवा करनेवाला धर्मको

६. सेव्यस्वरूप

व्याख्या :

जिन देवकी अपने ईष्टदेवके रूपमें सेवा (-पूजा-आराधना) की जाती हो उन्हें 'सेव्यस्वरूप' कहा जाता है. परब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम देवाधिदेव व्रजाधिप साक्षात् श्रीकृष्ण ही पुष्टिभक्तिमार्गमें सेव्य / इष्ट / आराध्य होते हैं.

भगवदागमन कैसे ?

आत्मनिवेदन करनेके पश्चात् पुष्टिभक्तिमार्गीका कर्तव्य प्रभुको सर्वस्वसमर्पण करनेका होता है. प्रभुको अपनी सर्व वस्तुओंका समर्पण करना भक्तकेलिए तब तक अशक्य रहता है जब तक कि प्रभु भक्तके घर-परिवारमें तथा उसके जीवनके हर एक प्रसंगमें ओतप्रोत नहीं हो जाते हैं. समस्या यह है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह समस्या हल तो तब ही हो सकती है कि जब प्रभु जिस तरह श्रीनन्दरायजी-श्रीयशोदाजीके घरमें अवतरित होकर उनके जीवनमें ओतप्रोत हो गये थे उसी तरह ब्रह्मसम्बन्धी वैष्णवके घरमें भी अवतरित हों तथा उसके भक्तिभावका, समर्पणका तथा सेवाका स्वीकार करें.

भक्तका हृदय यदि किसी भी तरह की स्वार्थभावनासे रहित-शुद्ध तथा शुद्धभक्तिभाववाला है तथा यदि उसने प्रभुको आत्मनिवेदन सच्चे हृदयसे किया है तो उसे आश्वस्त रहना चाहिये कि ऐसे ब्रह्मसम्बन्धी वैष्णवके घर-परिवार तथा जीवन में प्रभु पधारते ही हैं. ब्रह्मसम्बन्धदीक्षासे दीक्षित वैष्णवका सर्वस्वसमर्पण स्वीकारनेकेलिए प्रभु गुरुको निमित्त बनाकर 'सेव्यस्वरूप'के रूपमें वैष्णवके घरमें पधारते हैं.

श्रीमहाप्रभुजी 'निबन्ध'ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं :

> तत्त्वका यदि विचार किया जाय तब तो वस्तुमात्र भगवद्रूप ही होती है. भगवन्मूर्तिमें, परन्तु, इतनी विशेषता होती है: "मैं इस भक्तका उद्धार करुंगा" ऐसी इच्छासे भक्तके घरमें प्रभु सेव्यस्वरूपतया पधारते हैं.

मूर्ति / स्वरूप तथा भगवानमें भेद नहीं है :

भगवत्स्वरूपको भक्तके घरमें सेवार्थ पधरानेकी विधिमें श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि प्रभुसेवा करनेवालेको सेव्य-भगवत्स्वरूप तथा भगवान् में भेदभाव नहीं रखना चाहिये. अर्थात्, जिसकी सेवा वह करने जा रहा है अथवा कर रहा है वह तो मूर्ति / स्वरूप है और भगवान् उस मूर्ति / स्वरूपसे अलग हैं ऐसा भेदभाव सेवाकर्ताको नहीं रखना चाहिये. उसी तरह मूर्ति / स्वरूपकी सेवा करने पर उसमेंसे भगवान् प्रकट होंगे इस प्रकारका भेदभाव भी स्वसेव्य भगवत्स्वरूपके बारेमें नहीं रखना चाहिये. अतएव, पुष्टिभक्तिमार्गका यह प्राथमिक सिद्धान्त है कि उसके घरमें सेव्यतया बिराजमान भगवत्स्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही साक्षात् हैं ऐसे आधिदैविकताके भावसे सेवा करनी चाहिये.

श्रीआचार्यचरण, अतएव, 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं :

> ब्रह्म तो साकार भी है तथा व्यापक भी. और फिर अन्तर्यामिरूपसे सबके अन्दर अवस्थित भी है. अतएव, भगवन्मूर्तिरूप भी स्वयं भगवान् ही हैं. यही कारण है कि भगवन्मूर्तिको जो स्नान अलंकरण भोग आदि उपचार किये जाते हैं उसका अंगीकार भगवान् स्वयं करते ही हैं. समान न्यायसे, भगवन्मूर्तिका यदि कोई अपराध होता है तो वह अपराध भी साक्षात् भगवान्का ही माना जाता है.

भगवान् तो पृथ्वीके कण-कणमें विद्यमान होते हैं. अतएव, भक्त यदि भगवन्मूर्तिमें अपना (ये मेरे स्वामी हैं ऐसा) सेव्यभाव स्थापित करता है तो भगवान् भक्तके सेव्य बन जाते हैं.

श्रीभागवतमें कहा गया है :

> आपका भक्त आपके जैसे-जैसे स्वरूपोंकी

भावना अपनी बुद्धिमें करता है वैसे-वैसे स्वरूप आप उसके ऊपर कृपा करके धारण करते हैं.

भगवान्‌के इस सामर्थ्य और कृपाका निदर्शन हम भगवद्‌भक्त प्रह्लादजीके चरित्रमें देख सकते हैं. प्रह्लादजीको सर्वत्र भगवद्‌भाव सिद्ध था. इसी कारण उनकी हत्याकेलिये प्रयत्नशील रहनेवाले पिता, पुरोहित एवं अन्य राक्षसोंके प्रति भी उनके मनमें किसी भी प्रकारका क्रोध या द्वेष का भाव नहीं जगता था. उनके पिता हिरण्यकशिपुको, परन्तु, भगवान्‌के सामर्थ्यमें विश्वास नहीं था. भक्त प्रह्लादकी प्रार्थनासे भगवान् महलके खम्भेमेंसे प्रकट हुवे तथा हिरण्यकशिपुका वध करके प्रह्लादकी रक्षा की. अतएव, श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् जब किसी भक्तविशेषकेलिये "मैं इस जीवका उद्धार करुंगा" ऐसी इच्छा करते हैं तब वे— जिस प्रकार प्रह्लादकेलिए खम्भेमेंसे प्रकट हुवे थे, अथवा जैसे व्रजभक्तोंकेलिए नन्दगृहमें प्रकट हुवे थे उसी प्रकार —उस भक्तका उद्धार करनेकेलिये उसके घरमें उसके सेव्यतया पधारते हैं. अतएव, पुष्टिमार्गके घरमें बिराजमान सेव्य-भगवत्स्वरूपको साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही माना जाता है.

भगवदनुभूति कैसे :

यहां एक प्रश्न होता है कि, भक्तोंके घरमें बिराजमान् सेव्य-भगवत्स्वरूप यदि साक्षात् भगवान ही हैं, भगवान्‌का ही साक्षात् प्राकट्य है तो श्रीनन्दरायजी-श्रीयशोदाजी आदि व्रजभक्तोंको भगवानका जैसा साक्षात् अनुभव हुवा करता था वैसा अनुभव आज भक्तोंको क्यों नहीं होता है?

इस शंकाका समाधान समझनेकेलिये प्रभुकी अवतारकालीन (प्रकट) लीला एवं अनवतारकालीन (अप्रकट) लीलाके भेदको समझना जरूरी है.

इससे पूर्व हम समझ चुके हैं कि जड़-जीवात्मक यह समग्र सृष्टि प्रभुकी लीलाभूमि है. और इस सृष्टिके रूपमें भी स्वयं प्रभु ही क्रीड़ा कर रहे हैं. जिस प्रकार

कोई अभिनेता कभी अपने मूलरूपमें रहकर रंगमंचके ऊपर अभिनय करता है तो कभी मूलरूपको छुपाकर छद्मवेशमें अभिनय करता है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी लीलासृष्टिमें कभी कहीं किसीकेलिए प्रकटरूपसे लीला करते हैं तो कभी कहीं किसीकेलिए अप्रकटरूपसे भी लीला करते हैं. इन दो प्रकारकी प्रभुकी लीलाको यथाक्रम अवतारकालीन (प्रकट) लीला एवं अनवतारकालीन (अप्रकट) लीलाके नामसे जाना जाता है.

अवतारकालीन (प्रकट) लीला :

भगवान् जब किसी विशेष कार्यार्थ अपने धाममेंसे पृथ्वीके ऊपर अवतरित होकर प्रकटरूपमें लीलाएं करते हैं तब उन लीलाओंको भगवानकी 'अवतारकालीन (प्रकट) लीला' कहा जाता है. उदाहरणतया; श्रीनन्दरायजीके वहाँ भगवान् प्रकट हुवे तब सभी लोगोंको भगवानका साक्षात् अनुभव होता था. उस समय जिन्होंने भी भगवानका भजन पुत्र भाई सखा प्रियतम शिष्य आदि भावोंसे किया था, उन सभीके भावोंका पोषण भगवानने उन्हीं रूपोंको धारण करके किया. प्रभुकी वह लीला अवतारकालीन, अर्थात् प्रकट लीला थी.

अनवतारकालीन (अप्रकट) लीला :

भगवान् अवतारकालमें जैसे सर्वजनोंके समक्ष प्रकट रहते हैं उस प्रकार प्रकट न रहकर जब अप्रकट रूपसे क्रीडा करते हैं तब उस लीलाको भगवानकी अनवतारकालीन, अर्थात् अप्रकट लीला कहा जाता है. उदाहरणतया; व्रजमें व्रजभक्तोंका उद्धार, राक्षसोंका नाश, धर्मस्थापन आदि कार्योंके सम्पन्न हो जानेके पश्चात् भगवान् स्वधाममें पधार गये. भगवानके स्वधाम पधारनेसे लेकर जब तक भगवान् पुनः अवतरित नहीं होते हैं तब तकके कालको 'अनवतारकाल' कहा जाता है. अर्थात् एक अवतारसे लेकर दूसरे अवतारके बीचके समयको अनवतारकाल कहा जाता है. इस दृष्टिसे देखा जाय तो वर्तमान समय अनवतारका समय कहा जायेगा.

अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया ही प्रकटरूपसे बिराजमान रहते होनेके कारण भगवानके दर्शनादिका लाभ ज्ञानी-अज्ञानी, भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा जैसे सभी लोग प्राप्त कर सकते हैं. अनवतारकालमें, परन्तु, भगवान् व्यापकरूपमें तो सर्वत्र बिराजमान रहते होने पर भी अवतारकालकी तरह प्रकटस्वरूपसे सर्वजनसुलभ नहीं रह जाते हैं. अर्थात् अनवतारकालमें सुगमतासे सब लोगोंको भगवानके दर्शनादिका अनुभव नहीं हो सकता है.

इस बातको हम वर्षा तथा कुवे के दृष्टान्तसे समझ सकते हैं. वर्षाका जल जब बरसता है तब बिना किसी प्रयास के सब लोग उससे स्नान-पानादि व्यवहार कर सकते हैं. इसके विपरीत, वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर स्नान-पानादि करनेकी इच्छा हो तो कुवेआदिमेंसे जल खींचनेका परिश्रम करना पड़ता है. इसी प्रकार भगवान् जब अवतरित होते हैं तब तो बरसते जलकी तरह भगवानका अनुभव सब लोगोंको यथाधिकार होता रहता है. अनवतारकालमें, परन्तु, भगवान् ऐसी इच्छा रखते हैं कि जिन जीवोंको प्रभुकी अवतारलीलाके जैसा अनुभव प्राप्त करना हो वे प्रथम साधन-भक्ति करें तत्पश्चात्त भगवान् उनको अनुभव करायें. एतदर्थ, भगवान् भक्तोंको उनके भावानुसार अनुभव करानेकेलिये अनवतारकालमें प्रायः मूर्तिस्वरूपसे स्थिति करते हैं तथा उस स्वरूपमें ही भक्तोंको अवतारलीला जैसे सर्व अनुभव भी कराते हैं. ८४-२५२ वैष्णवोंके चरित्र एवं पुराणवर्णित अन्य भी भक्तोंके चरित्रोंका अवलोकन करने पर इस तथ्यका ज्ञान हो सकता है.

पुष्टिभक्तिमार्गमें तो सर्वदा अवतारकाल ही है:

आगे हम इस बातको देख चुके हैं कि पुष्टिजीवके उद्धारकी इच्छासे प्रभु पुष्टिमार्गकि घरमें सेव्यस्वरूपतया अवतरित होते हैं. अतः, वैसे देखा जाय तो वर्तमान समय अनवतारका है तथापि यदि कोई पुष्टिभक्तिमार्गी श्रीआचार्यचरणद्वारा स्थापित सिद्धान्तमर्यादामें रहकर प्रभुकी सेवा करता है तो उसके

लिए तो अनवतारकालमें भी अवतारकाल ही होता है.

भगवदिच्छाकी दृष्टिसे देखा जाय तो भगवदनुभूति होने अथवा न होने में प्रभुकी इच्छा ही कारणरूप होती है. परन्तु, जीवदृष्टिसे यदि देखा जाय तो प्रभुके माहात्म्यका अज्ञान तथा भक्तिका अभाव भी प्रभुका वैसा अनुभव न होनेमें कारणरूप होते ही हैं.

भगवदनुभूतिमें अज्ञान और भक्ति का अभाव बाधक:

ऐसा कंई बार होता है कि जिस वस्तुको हम खोजते होते हैं वह वस्तु हमारे सामने ही रखी होने पर भी उसको हम देख नहीं पाते हैं. कंई बार तो ऐसा भी होता है कि उस वस्तुके ऊपर हमारी दृष्टि पड़ने पर भी हमें उसका ज्ञान नहीं हो पाता है. ऐसा होनेके कंई कारण सोचे जा सकते हैं. यथा मनकी अस्थिरता, वस्तुके स्वरूपका सम्पूर्ण ज्ञान न होना, ज्ञानेन्द्रियोंमें विकार, काम क्रोध जैसे भावोंसे बुद्धिका प्रभावित होना आदि. भगवदनुभवमें भी ऐसा ही होता है.

भगवान् सर्वरूप हैं और सर्वान्तर्यामी भी. अतएव, भक्तका उद्धार करनेकी इच्छा होने पर वे मूर्तिस्वरूपसे भक्तके घरमें सेव्यतया बिराजते हों उसमें कोई आश्चर्यकारक बात नहीं है. परन्तु, आंखों पर रंगीन चश्मा पहने हुवे आदमीको वस्तुके वास्तविक स्वरूप (रंग)का जैसे ज्ञान नहीं हो पाता है वैसे ही सेवाकर्ता-भक्तको भी जब तक प्रभुके स्वरूपका पूर्ण माहात्म्यज्ञान तथा प्रभुमें प्रेम हो नहीं जाता है तब तक उसे भगवानका अवतारकालीन लीला जैसा अनुभव, सामान्यतया, हो नहीं पाता है. भगवानकी इच्छा, क्योंकि, वैसी ही होती है. आंखोंके ऊपरसे, परन्तु, जब चश्मा उतर जाता है तब जैसे सभी वस्तुएं अपने वास्तविक स्वरूपमें दिखलाई देने लगती हैं वैसे ही भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक प्रभुमें प्रेम-भक्ति होते ही भगवदनुभव होने लगता है, भगवदिच्छा यदि वैसी है तो.

इसी बातको यदि दूसरे शब्दोंमें कहा जाये तो भगवानका

अनुभव वरण-अंगीकारके अधीन होता है. अर्थात् जब जिस जीवका अंगीकार (स्वीकार) भगवान् खुदका अनुभव करानेकेलिये करते हैं तब उस जीवको भगवानका अनुभव हो सकता है. भगवच्छास्त्रोंमें इस सन्दर्भमें बड़ी ही रोचक बात बतलाई गई है कि वैसे तो जीवका अंगीकार भगवानके अधीन (बसमें) ही होता है, परन्तु खुद भगवान् प्रेम-भक्तिके अधीन होते हैं. अतएव, घूम-फिर कर अन्ततः तो प्रेम-भक्ति ही भगवदनुभवमें कारणरूप बन जाती है.

भगवदाराधन सर्वत्र क्यों नहीं ?

जड़-जीवात्मक समग्र सृष्टिरूप भगवान् स्वयं ही बने होने पर भी भगवानकी आराधना (सेवा-भक्ति) हर किसी वस्तुमें करनेका शास्त्रमें निषेध है. इस निषेधका कारण एक सरल दृष्टान्तसे समझा जा सकता है.

श्रेष्ठजनोंके प्रति आदरभाव व्यक्त करनेकेलिये हम उनके चरणोंका स्पर्श करते हैं. तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय तो उनकी श्रेष्ठता केवल उनके चरणोंमें ही होती हो और मस्तकमें नहीं होती हो ऐसी तो कोई बात नहीं होती. श्रेष्ठता तो उनके मस्तकसे लेकर चरणों तक समानरूपसे होती ही है. तथापि, ऐसा कहीं देखा नहीं गया है कि कोई तत्त्वचिन्तक (!) भी श्रेष्ठजनोंके चरणोंका स्पर्श न करके उनके मस्तकका स्पर्श करनेका अविवेक करता हो. सभी लोग श्रेष्ठजनोंके चरणोंका ही स्पर्श करते होते हैं. इसी प्रकार वृद्धजनोंके चरणोंका स्पर्श करनेवाले बालक भी उनके मस्तकसे लेकर चरणों तक बालक ही होते हैं. तथापि उनको आशीर्वाद कोई भी वृद्धजन उनके चरणोंपर देते हों ऐसा कहीं देखा नहीं गया है. आशीर्वाद तो सभी वृद्धजन मस्तकके ऊपर ही देते हैं. इसको सूक्ष्म विवेकदृष्टि अथवा औचित्यविचार कहा जाता है.

इस दृष्टान्तकी सहायतासे अब हम समझ सकेंगे कि जैसा औचित्य (योग्य-अयोग्य) का विचार हमारे लोकव्यवहारमें किया जाता है वैसा ही औचित्यका विचार भगवदाराधन

करनेके स्थानोंमें भी शास्त्रकारोनें किया है. शिला धातु या काष्ठकी मूर्ति, चित्र, अग्नि, सूर्य आदि स्थानोंमें भगवदाराधन करनेका नियम शास्त्रमें निर्धारित किया गया है. मर्यादामार्गीय उपासनामार्गमें तो इनसे भी अधिक स्थल उपासनाकेलिए दिखाये गये हैं. भक्तिमार्गमें तो शिला धातु या काष्ठसे निर्मित भगवद्-विग्रह (मूर्ति) अथवा चित्रमूर्ति में ही भगवदाराधनको प्रशंसनीय माना गया है.

स्वार्थ-परार्थप्रतिष्ठा :

यदि किसीको मर्यादामार्गीय शास्त्रीयविधिके अनुसार मूर्तिमें देवताकी आराधना करनेकी इच्छा है तो आराधनाका आरम्भ करनेसे पूर्व देवमूर्तिमें आराध्य देवताकी प्रतिष्ठा करनी होती है. देवप्रतिष्ठाकी विधि शास्त्रमें विस्तारपूर्वक वर्णित है. आराध्यदेवको मूर्तिमें स्थापित करनेकी विधिको 'प्राणप्रतिष्ठाविधि' अथवा 'आवाहनविधि' कहा जाता है. देवमूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके दो प्रकार शास्त्रमें वर्णित हैं :

(१)स्वार्थप्रतिष्ठा (२)परार्थप्रतिष्ठा.

स्वार्थप्रतिष्ठा :

जब किसी देवमूर्तिकी प्रतिष्ठा अपने घरमें खुद ही सेवा-पूजा करनेकेलिए की जाती है तब उसे मूर्तिकी 'स्वार्थप्रतिष्ठा' हुई कहा जाता है. स्वार्थप्रतिष्ठापित देवकी सेवा व्यक्तिको अपने ही परिवार धन-सम्पत्ति से खुद ही करनी होती है. देवसेवाकेलिए अन्य किसी व्यक्तिसे वह किसी भी प्रकारकी भेंट-सामग्रीका स्वीकार नहीं कर सकता है. और यदि कोई व्यक्ति इस नियमका भंग करके अपने आराध्यस्वरूपका प्रदर्शन अन्य लोगोंके समक्ष अपनी आजीविका चलानेकेलिये करता है अथवा तो अपने आराध्यस्वरूपकी सेवा-पूजाकेलिये अन्य किसीसे भेंट-सामग्रीका स्वीकार करता है तो धर्मको धन्धा बनानेवाले उस व्यक्तिको शास्त्रकार महापापी 'देवलक' कहते हैं. (पुष्टिमार्गिओंको और उसमें भी खास करके गुरुओंको इसका विचार गम्भीरतासे करना चाहिये.) अपनी देवसेवाको, स्वधर्मको धन्धा बनानेवाले देवलकके साथ न

तो बोलना चाहिये और न ही उसको छूना चाहिये ऐसा शास्त्रका आदेश है. देवलक ब्राह्मणको किया गया दान अथवा दिया गया भोजन भूतोंको जाता है ऐसा महाभारतमें स्वयं भगवानने कहा है.

परार्थप्रतिष्ठा :

देवमूर्तिकी प्रतिष्ठा जब केवल स्वसेवार्थ न करके सर्वसाधारण लोगोंको देवदर्शन-पूजन आदिका लाभ मिले उस हेतुसे की अथवा कराई जाती है तब वैसी प्रतिष्ठाको 'परार्थप्रतिष्ठा' कहा जाता है. उदाहरणतया श्रीजगन्नाथजी, श्रीतिरुपति बालाजी, पाण्डुरग श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीरणछोड़रायजी आदि भगवत्स्वरूप परार्थप्रतिष्ठापित माने जाते हैं.

पुष्टिभक्तिमार्गमें भावप्रतिष्ठा :

उपासनामार्गीय पूजाप्रकारमें शास्त्रीयविधि तथा मन्त्र का महत्त्व असाधारण होता है. इसके विपरीत पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवाप्रकारमें सेव्यस्वरूपके सुखका विचार तथा स्नेह-भाव प्रधान होते हैं. अतएव, पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रभुसेवाका प्रकार देवके आवाहन-विसर्जन एवं मन्त्रविधिपूर्वक की जाती सेवा-पूजाके मर्यादामार्गीय प्रकारसे भिन्न है. यही कारण है कि उपासनामार्गकी तरह मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा करनेका प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें नहीं है. इसके स्थान पर, भावप्रतिष्ठाका प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें व्यवस्थित किया गया है.

परार्थप्रतिष्ठा पुष्टिमार्गमें अमान्य :

देवमूर्तिकी परार्थप्रतिष्ठाका उपरोक्त प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गके सिद्धान्तोंसे तथा भक्तिकी भावनासे विरुद्ध होनेके कारण पुष्टिभक्तिमार्गमें स्वीकार्य नहीं है.

पुष्टिभक्तिमार्गमें हरएक पुष्टिमार्गीको (वैष्णव तथा गो. आचार्योंको भी) प्रभुसेवा अन्य किसीसे भी सेवार्थ भेंट-सामग्री स्वीकार किये बिना, अपनी मालिकीकी वस्तुसे, खुद ही और अपने ही घरमें करनी होती है इस सिद्धान्तका उद्घोष श्रीआचार्यचरणने सिद्धान्तमुक्तावली तथा भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें किया ही है. स्वगृहमें बिराजमान सेव्यस्वरूपकी सेवा भी

अत्यन्त गुप्त रूपसे करनी होती है. पुष्टिमार्गी वैष्णव न हो ऐसा कोई व्यक्ति यदि किसी पुष्टिमार्गीके सेव्य श्रीठाकुरजीके दर्शन कर लेता है तो इस अपराधके दण्डके रूपमें सेवा करनेवालेकी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है ऐसा श्रीहरिरायचरण आज्ञा करते हैं. श्रीगोपीनाथजी भी आज्ञा करते हैं कि ऐसे वैष्णव कि जो हमारे स्वजन न हों और ऐसे स्वजन कि जो वैष्णव न हों उन दोनोंको अपने सेव्यप्रभुके दर्शन नहीं कराने चाहिये. इन सब सिद्धान्तोंका यदि विचार किया जाय तो परार्थप्रतिष्ठा अथवा सार्वजनिक (दर्शन-मनोरथकी) सेवा का प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें किसी भी तरह स्वीकार्य नहीं हो सकता है यह समझा जा सकता है.

सेव्यस्वरूप और भाव

'शिक्षाश्लोकाः'नामसे प्रसिद्ध श्रीआचार्यचरणके अन्तिम उपदेशश्लोकोंमें आप आज्ञा करते हैं :

> श्रीकृष्ण लौकिक प्रभु तो हैं नहीं. अतएव, सेवा करनेवालेके लौकिक भावोंका पोषण वें कभी भी नहीं करते हैं. इस लोकमें तथा परलोकमें भी भक्तका यदि कोई स्वकीय-अपना है तो वो केवल श्रीकृष्ण ही हैं, श्रीकृष्णके सिवा और कोई नहीं है ऐसा अलौकिक भाव प्रभुमें हमारा (श्रीमहाप्रभुजीका) समझना चाहिये.

श्रीमद्आचार्यचरणके इस कथनका सारांश यही है कि पुष्टिपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको कभी भी लौकिक दृष्टि / भावोंसे नहीं देखना चाहिये. जैसा अलौकिक प्रभुका स्वरूप है वैसा ही अलौकिक भाव उनमें रखकर उनकी सेवा करनी चाहिये. 'चतुःश्लोकी' ग्रन्थमें श्रीआचार्यचरण उस अलौकिक भावका स्वरूप बतलाते हुवे आज्ञा करते हैं :—

> सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः
>
> भावार्थः व्रजके अधिपति श्रीकृष्णकी सेवा सर्वदा सर्वभावसे करनी चाहिये.

इस श्लोकमें प्रयुक्त 'सर्वभाव'पदके तीन अर्थ बतलाये गये हैं:—

(१) जीवके रक्षक, पालक, प्रेरक, मित्र, सर्व फलदाता या गुरु सब कुछ प्रभु ही हैं ऐसा भाव प्रभुमें रखना उसको 'सर्वभाव' कहा जाता है.

(२) जड़-चेतनात्मक समग्र सृष्टिरूप प्रभु स्वयं हुवे हैं, भगवान् जगतके सर्व पदार्थोंमें व्याप्त हैं ऐसा भाव प्रभुमें रखना उसको 'सर्वभाव' कहा जाता है.

(३) आत्मा देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण परिवार घर धन-सम्पत्ति आदि भक्तका जो कुछ भी है उन सबके आधिदैविक स्वामी प्रभु ही हैं ऐसा भाव प्रभुमें होना उसको 'सर्वभाव' कहा जाता है.

सर्वभावके उपरोक्त तीनों अर्थ प्रभुकेलिये यथार्थ ही हैं. अतएव, सर्वभावसे प्रभुकी सेवा करनेका अर्थ है; उपरोक्तत तीनों भावोंसे प्रभुके स्वरूपको समझकर (सर्वभावसे) प्रभुकी सेवा करनी.

श्रीआचार्यचरणका उपदेश तो सुस्पष्ट है: पूर्णपुरुषोत्तम व्रजाधिप श्रीकृष्णकी सेवा सर्वभावसे करनी चाहिये. इतना सुस्पष्ट उपदेश होने पर भी पिछले कुछ समयसे कुछ स्वार्थी उपदेशक प्रभुसेवा कैसे भावोंसे करनी चाहिये उस विषयमें बड़े ही भ्रामक और हास्यास्पद उपदेश करने लगे हैं. यहां उन आधुनिक भ्रामक उपदेशोंका कुछ अंश दिया जाता है:—

> अनुयायी वैष्णवोंको चाहिये कि वे अपने घरमें बिराजमान सेव्यप्रभुमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका भाव न रखकर, गुरुभाव अथवा तो गुरुविशिष्ट पुरुषोत्तमभाव रखकर सेवा करें. कारण कि, पुरुषोत्तमभावसे प्रभुसेवा करनेका अधिकार अनुयायी वैष्णवोंका नहीं होता है, वह अधिकार तो केवल गोस्वामी आचार्योंका ही होता है. (कोई उनसे पूछे तो सही कि ऐसा उटपटांग उपदेश वे श्रीआचार्यचरणके कौनसे ग्रन्थके आधार पर करते हैं?)

सच पूछा जाय तो इन उपदेशकोंको न तो स्वमार्गीय सेवासिद्धान्त तथा भावना का ज्ञान होता है और न ही शुद्धाद्वैतब्रह्मवाद का. जो पुष्टिपथिक श्रीआचार्यचरणप्रकटित पुष्टिभक्तिके मार्गसे भ्रष्ट होना न चाहते हों उनको चाहिये कि वे ऐसे उटपटांग उपदेश करनेवालोंको वञ्चक (ठग) जानकर उनके दुःसंगका सदाकेलिये त्याग कर दें. क्योंकि, ऐसे उपदेशकों या उपदेशों का अनुसरण करनेका एक ही फल हो सकता है: पुष्टिभक्तिके मार्गसे हमारा अधःपतन.

उपरोक्त विषयमें सैद्धान्तिक स्थितिको हमें समझ लेना चाहिये. अनुयायी वैष्णवको सेव्यस्वरूप पधरा देनेकी विधि—'श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार'में, श्रीगुसांईजीने सभी उपदेशक-गुरुओंको स्पष्ट आदेश दिया है कि वे सेव्यस्वरूपमें पूर्णपुरुषोत्तम व्रजाधिप श्रीकृष्णका ही भाव स्थापित करके अनुयायीको सेव्यस्वरूप सेवार्थ पधरा दें.

> ततः श्रीपुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णोऽयम् इति बुद्धिः कर्तव्या...'श्रीकृष्ण'पदार्थनिरूप्योऽयमेव इति ध्यायन् श्रीकृष्णं सिंहासने स्थापयेत्...स एव भगवान् श्रीकृष्णो भजनीयः...

अतएव, श्रीगोकुलनाथजी 'सिद्धान्तरहस्य'ग्रन्थकी व्याख्यामें आज्ञा करते हैं:

> पुष्टिभक्तिमार्गमें तो सेवा पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही करनी चाहिये. श्रीकृष्णके अंशरूप (गुरु आदि) की अथवा विभूतिरूप (अन्य देवी-देवताओं) की नहीं.

श्रीगोकुलनाथजीके उक्त कथनसे भी यह सिद्ध हो जाता है कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सिद्धान्त तो पूर्णपुरुषोत्तमभावसे ही श्रीकृष्णकी सेवा करनेका है. इसके विपरीत जब भगवत्स्वरूपकी सेवा गुरुभाव या गुरुविशिष्ट पुरुषोत्तमभाव जैसे अपुष्टिमार्गीय भावोंसे की जाती है तब भावभावित सर्वभवनसमर्थ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, सेवाकर्ताके भावका पोषण करनेकेलिये अपना पुरुषोत्तमत्त्व

सेव्यस्वरूपमें तिरोहित कर लेते हैं. अर्थात्, छुपा लेते हैं. इस स्थितिमें, अपुष्टिमार्गीय भावोंसे सेवित वह स्वरूप श्रीमहाप्रभूपदिष्ट प्रकारसे सेवा करने योग्य नहीं रह जाता है. गुरुआदि भाव रखने पर वो स्वरूप श्रीकृष्णकी विभूति मात्र रह जाता है. यहां पर यह सिद्धान्त कदापि नहीं भूलना चाहिये कि श्रीकृष्णके स्थान पर श्रीकृष्णके अंश (गुरु आदि) अथवा विभूतिरूप (अन्य देवी-देवताओं) की सेवा यदि कोई पुष्टिमार्गी करता है तो वह अन्याश्रयके अपराधका भागी बनता है. अतएव, पुष्टिमार्गमें जो लोग सेव्यस्वरूपकी सेवा गुरुभाव या गुरुविशिष्ट पुरुषोत्तमभावसे करते हैं उनको भी अन्याश्रय करनेका अपराध लगता ही है. संक्षेपमें कहा जाय तो प्रत्येक पुष्टिभक्तिमार्गीको प्रभुकी सेवा, शिक्षाश्लोकी तथा चतुःश्लोकी ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभूपदिष्ट पुष्टिभावोंसे ही करनी चाहिये.

सेव्यस्वरूपोंमें तारतम्यभाव नहीं :

यदि हम श्रीमहाप्रभुप्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्गका अनुसरण करना चाहते हैं तो हमारेलिये यह अनिवार्य कर्तव्य होता है कि श्रीआचार्यचरणने भगवत्स्वरूप, भगवल्लीला तथा भगवत्सेवा की भावना का जो उपदेश ग्रन्थोंद्वारा दिया है उसको जान-समझकर तदनुसार ही पुष्टिभक्तिमार्गकी साधनामें हम प्रवृत्त हों. प्रभुसेवा करते समय हमारे मनमें ऐसे कोई भी भाव नहीं लाने चाहिये जो कि पुष्टिमार्गीय सेवा, सेव्यस्वरूप अथवा लीलाभावनाके अनुरूप न हो. इसी तरह पुष्टिमार्गीय किसी भी सेव्यस्वरूपोमें तारतम्य अर्थात् ऊंच-नीचका भाव अथवा भेदभाव भी मनमें नहीं लाना चाहिये.

ब्रह्मवादके अनुसार, तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय तो, सब कुछ ब्रह्मात्मक ही होता है तथा भक्तके उद्धारकी विशेष इच्छासे प्रभु स्वयं भक्तके घरमें सेव्य बनकर पधारते हैं. अतएव, पुष्टिमार्गीय सभी सेव्यस्वरूप पूर्णपुरूषोत्तम साक्षात् श्रीकृष्ण ही होते हैं. यहाँ, परन्तु, फिर कुछ स्वार्थी उपदेशक तथा वैसे ही अनुयायी-वैष्णव भी अनेकानेक कल्पनाओंको

घड़कर सेव्यस्वरूपोमें ऊंच-नीचभाव अथवा भेदभाव खड़े करते देखे जाते हैं. कुछ वंचक लोग मानते हैं—

श्रीमहाप्रभुजीद्वारा सेवित / पुष्ट स्वरूप श्रीगुसांइजीद्वारा सेवित स्वरूपोंसे श्रेष्ठ होते हैं. श्रीगुसांइजीद्वारा सेवित स्वरूप आपके सात पुत्रोंद्वारा सेवित स्वरूपोंसे श्रेष्ठतर होते हैं. सात पुत्रोंद्वारा सेवित स्वरूप अन्य (आधुनिक)वल्लभवंशजोंद्वारा सेवित स्वरूपोंसे श्रेष्ठ होते हैं. आधुनिक वल्लभवंशजोद्वारा सेवित स्वरूप अनुयायी वैष्णवोंद्वारा सेवित स्वरूपोंसे श्रेष्ठ होते हैं. इससे भी आगे बढ़कर कुछ पाखण्डी लोग धरे जाते भोगके प्रकार: सखडी अनसखडी नागरी दूधगर सूखा-हरामेवा मिसरी आदिमेंसे जो स्वरूप सखडीभोग अरोगते हों वे सर्वश्रेष्ठ, सिर्फ अनसखडीभोग अरोगनेवाले स्वरूप दूधगर अरागनेवाले स्वरूपोंसे श्रेष्ठ —इस तरह पूर्व-पूर्व भोग अरोगनेवाले स्वरूप उत्तरोत्तर भोग अरोगनेवाले स्वरूपोंसे श्रेष्ठ होते हैं ऐसा मानते हैं. उसी तरह सिद्धान्तके द्वेषी कुछ लोग, कठिन आचार(मेंड-मरजाद) पालकर जिनकी सेवा होती हो उन सेव्यस्वरूपोंको कम आचार पालकर सेवित सेव्यस्वरूपोंसे श्रेष्ठ मानते हैं. कुछ क्षुद्रबुद्धि लोग ऐसा भी मानते हैं कि चित्रसे धातु, धातुसे काष्ठ तथा काष्ठसे शिला निर्मित स्वरूप श्रेष्ठ होते हैं. कुछ लोग गौरसे श्याम स्वरूपको ज्यादा श्रेष्ठ मानते हैं. कुछ मूर्ख लोग अति वैभवसे जिन स्वरूपोंकी सेवा होती हो उन (हवेली-मन्दिरोंमें बिराजमान) स्वरूपोंको सादगीसे जिनकी सेवा होती हो वैसे (वैष्णवोंके घरोंमें बिराजमान)स्वरूपोंसे श्रेष्ठ मानते हैं. कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि भक्तिकी रुचि प्रेम आसक्ति व्यसन रूपा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अवस्थाके

भेदसे सेव्यस्वरूपोंको बदलते रहना चाहिये. तदनुसार; रुचिकी अवस्थामें चित्रस्वरूप, प्रेमावस्थामें बालकृष्णस्वरूप, आसक्ति अवस्थामें ठाड़े स्वरूप और व्यसनावस्थामें श्यामस्वरूप.

ऐसे अथवा इनके जैसे अन्य किसी बहानोंसे एक-दूसरेके सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीच या भेदभाव खड़े करनेसे बढ़कर बडा पाप पुष्टिभक्तिमार्गमें और कोई हो नहीं सकता है. सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव रखनेवालेको तो अर्धनास्तिक ही मानना चाहिये.

इस प्रकारकी मान्यताएँ फैलानेके पीछे ठग उपदेशकोंका स्वार्थ यही होता है कि भोले भावसे अपने घरमें प्रभुकी सेवा करनेवाली साधारण वैष्णव जनताके सामने उन(उपदेशकोंके)के सेव्यस्वरूपोंकी श्रेष्ठता यदि किसी तरह सिद्ध हो जाती है तो साधारण वैष्णवजन अपने सेव्यस्वरूपोंको खुदबखुद अश्रेष्ठ मानने लगेंगे. यथा

> "हमारे ठाकुरजी तो गुरूभावसे सेवित हैं, पुरुषोत्तमभावसे सेवित तो वे हैं" अथवा "हमारे ठाकुरजी तो निधि (श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजीद्वारा सेवित) नहीं हैं, जबकि उनके तो स्वरूप निधि हैं" या "मेरे ठाकुरजी तो मिसरी / दूधगर / अनसखडी - / नागरीभोग अरोगनेवाले हैं, और वे तो सखडीके हैं" या "यह स्वरूप तो बिनमरजादके हैं, वे तो मरजादके / कुएके जलवाले हैं" इत्यादि.

और इस प्रकार जब अनुयायी वैष्णव अपने सेव्यस्वरूपोंको उन ठग उपदेशकोंके सेव्यस्वरूपोंसे अश्रेष्ठ मानने लगेंगे तब अपने सेव्यस्वरूपोंकी सेवा करते उनको कभी भी सन्तोष नहीं मिलेगा. ऐसे असन्तुष्ट पुष्टिमार्गी सेवाका कथित सच्चा सन्तोष पानेकेलिये, स्वाभाविक है कि, उन ठग उपदेशकोंके कथित श्रेष्ठ सेव्यस्वरूपोंके दर्शन करनेकेलिये तथा भेंट-सामग्री देकर मनोरथ करानेकेलिये उत्सुक होंगे ही. ऐसा जब होगा तब ही तो उन उपदेशकोंकी दुकानदारी चलेगी ! इस दुष्परिस्थितिको

आज हम स्पष्टरूपसे देख सकते हैं. अज्ञानी पुष्टिमार्गी ठग उपदेशकोंकी उटपटांग बातोंमें आ जाकर उनकी हवेली-मन्दिरोंमें दर्शन-मनोरथार्थ पागलोंकी तरह भटकते फिरते हैं, उनके स्वयंके घरमें बिराजते साक्षात् श्रीकृष्णकी उपेक्षा करते हुवे.

सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव रखनेका परिणाम कैसा अनिष्टकारक आ सकता है उस बातको श्रीगुसांइजीके इस चरित्र-प्रसंगसे समझा जा सकता है.

श्रीगुसांइजीके पुत्र तथा पुत्रियाँ अपने-अपने सेव्यस्वरूपोंकी सेवा अपने-अपने घरोंमें ही किया करते थे. एक समय ज्येष्ठपुत्र श्रीगिरिधरजीको ऐसी इच्छा हुई कि परिवारके सभी निजी सेव्यस्वरूपोंको तथा संयुक्तपरिवारके सेव्यस्वरूप श्रीनाथजीको एक साथ अन्नकूटभोग अरोगाया जाये. एतदर्थ श्रीगुसांइजीसे आज्ञा मांगने पर पहले तो श्रीगुसांईजीने साफ ना ही कर दी. जब श्रीगिरिधरजीने दूसरी बार विनंती की तब श्रीगुसांइजीने श्रीनाथजीको इस विषयमें पूछा और खुदका इस विषयमें अभिप्राय बताते हुवे विनती की कि ऐसा करनेसे लौकिक बढ जायेगा और दूसरे स्वरूपोंमें लौकिक(ऊंचनीच-तारतम्य)भाव भी बढ जायेगा. श्रीनाथजी तो स्वयं इस लीलाके द्वारा आधुनिक वल्लभवंशजोंको तथा अनुयायी वैष्णवोंको सबक सिखाना चाहते ही थे. अतः, श्रीनाथजीने तो श्रीगिरिधरजीकी इच्छाके अनुसार ही खुदकी भी इच्छा है ऐसी आज्ञा की. अब तो श्रीगुसांइजीके पास 'हां' करनेके अलावा और कोई उपाय ही नहीं था. श्रीगुसांइजीने अरुचिसे सम्मति दी. सब स्वरूपोंको साथ पधराकर अन्नकूटभोग अरोगाया गया. अन्तमें, परन्तु, वही हुवा कि जिसकी आशंका श्रीगुसांईजीको थी.

इतने बडे महोत्सवके दर्शन करनेके लोभसे श्रीगुसांइजीके एक पुत्री अपने घरमें बिराजमान निजी सेव्यस्वरूपकी सेवा बीचमें ही छोडकर सब स्वरूप जहाँ इकट्ठे अन्नकूटभोग अरोग रहे थे वहाँ दर्शनार्थ गये. यह देखकर श्रीगुसांइजी अत्यन्त क्रोधित हुवे. आपने अपनी पुत्रीको कठोर शब्दोंमें आज्ञा की :—

अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा छोडकर आप यहाँ दर्शन करने क्यों आये हो? आपके वहाँ क्या कोई और बिराज रहा है? (अर्थात्, आपके वहाँ बिराजमान सेव्यस्वरूपके साक्षात् पूर्णपुरूषोत्तम होनेमें आपको कोई संदेह है? अथवा, क्या आप अन्य स्वरूपोंको आपके अपने सेव्यस्वरूपसे श्रेष्ठ समझते हो?) मैंने तो पहलेसे ही कहा था कि ऐसा करनेसे लौकिक (एक-दूसरेके सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव) बढ जायेगा.

ऐसी लताड़ सुनकर पश्चात्ताप करते-करते श्रीगुसांइजीके पुत्री उलटे पांव अपने घर आये. जब उन्होंने अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन किये तो वहाँ उनको सब स्वरूप सहित श्रीनाथजी अन्नकूट अरोग रहे हैं वैसे दर्शन हुवे!

इस घटनासे हम समझ सकते हैं कि सेव्यस्वरूपमें ऊंच-नीचभाव तथा सेवा-मनोरथोंके प्रदर्शनका परिणाम कितना अनर्थकारी हो सकता है! सेवाके सिद्धान्त तथा सेवाकी भावनाका समूल उच्छेद हो जाता है. इतने पर भी, ऊपर हमने देखा उस तरह, स्वार्थान्ध लोग श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंका सरेआम द्रोह करके सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव खडा करनेका जघन्य अपराध कर रहे हैं. पुनः इस विषयमें श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त स्पष्ट शब्दोंमें समझ लेना चाहिये कि पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूपोंमें किसी भी प्रकारका ऊंच-नीचभाव अथवा भेदभाव नहीं होता है. सभी स्वरूप साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही होते हैं. अतएव, हरएक पुष्टिमार्गीको अपने-अपने सेव्यस्वरूपको पूर्णपुरुषोत्तम साक्षात् व्रजाधिप श्रीकृष्ण जानकर सर्वभावसे उनकी सेवा करनी चाहिये.

७. सेवास्थल

जब हम 'पुष्टिभक्तिमार्गी' शब्दका प्रयोग करते हैं तब दो वर्ग हमारे सामने आते हैं. एक तो अनुयायी वैष्णववर्ग तथा दूसरा श्रीवल्लभाचार्यके वंशज गोस्वामी आचार्यवर्ग. इन दोनोंके स्थानमें थोड़ा तारतम्य होता है. अनुयायी वैष्णववर्ग पुष्टिभक्तिमार्गके शुद्ध साधक होते हैं. जब कि श्रीवल्लभवंशज गोस्वामी पुष्टिभक्तिमार्गके साधक होनेके साथ-साथ पुष्टिभक्तिमार्गके आचार्य / गुरु / उपदेशक भी होते हैं. श्रीमद्आचार्यचरणने स्वमार्गीय सिद्धान्तोंका निरूपण करते समय अनुयायी और गोस्वामी आचार्य के बीच किसी भी तरहका भेदभाव नहीं बरता है. पुष्टिभक्तिमार्गकी साधनासे सम्बन्धित जो विधिनिषेधात्मक सिद्धान्त अनुयायिओंके ऊपर लागु होते हैं वो ही सिद्धान्त यथावत्, बिना किसी छूट-छाट विशेषाधिकार अथवा अपवाद के गोस्वामी आचार्योंके ऊपर भी लागु होते ही हैं. अतएव सेवा, सेव्यस्वरूप, सेवास्थल सेवार्थआजीविका सदाचार आदि विषयोंसे सम्बन्धित श्रीआचार्यचरणकी आज्ञाको गोस्वामी आचार्योंको उसी तरह शिरोधार्य करना चाहिये जिस तरह कि अनुययीवर्ग किया करते हैं. इस बातको अच्छी तरहसे समझ लेनेके पश्चात् अब हम प्रस्तुत विषयका विचार करेंगे.

पुष्टिभक्तिमार्गीको भगवत्सेवा कहाँ करनी चाहिये? इस प्रश्नका समाधान करते हुवे श्रीआचार्यचरण भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं:—

बीजदाढर्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः

भावार्थः पुष्टिजीवोंके भीतर बीजरूपसे रही हुई पुष्टिभक्तिको दृढ करनेका उपाय है: घरमें रहकर स्वधर्मके पालनपूर्वक श्रीकृष्णकी सेवा करना.

श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार तो प्रभुसेवा करनेका स्थल भक्तका अपना घर ही होता है.

१. प्रभुसेवा भक्तकी जीवनप्रणाली होती है:

श्रीआचार्यचरणने प्रभुसेवा-भक्तिको भक्तकी जीवनप्रणा-

लीके रूपमें माना है. अतएव, भक्तके जीवनकी जागना-सोना, खाना-पीना, धन्धा-रोजगार, विवाह इत्यादि सभी क्रियाओंका केन्द्रबिन्दु प्रभु बने उस तरहके सेवाप्रकार तथा सेवाभावना को श्रीमहाप्रभुजीने सम्प्रदायमें व्यवस्थित किया है. सेवाका ऐसा प्रकार कि जिसमें प्रभुसेवा-भक्ति केवल कर्मकाण्ड न रहकर एक जीवनप्रणाली बन जाये वह भक्तके अपने घरके अतिरिक्त अन्य किसी भी (मन्दिर-हवेली जैसे सार्वजनिक) स्थानमें निभ नहीं सकता है. मर्यादामार्गीय सार्वजनिक मन्दिर-देवालयोंकी तरह कथित पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मन्दिर या हवेली में प्रभुसेवा-दर्शनार्थ जाने पर प्रभुसेवा भक्तकी जीवनप्रणाली नहीं रह जाती है. वह कोरा कर्मकाण्ड या बाह्य दिखावा-पाखण्ड बन जाती है. पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रभुसेवाका प्रकार तो, अतएव, केवल भक्तके घरमें ही सम्भव है.

२. स्वगृहसेवाके बिना समर्पण अशक्य :

अपने देहसे लेकर परिवार घर धन-सम्पत्ति पशु नौकर आदि अपनी प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति का प्रभुसेवामें उपयोग करनेको सर्वस्वसमर्पण कहा जाता है. और; खाद्य-पेय पदार्थ, धन-सम्पत्ति घर आदि प्रभुको समर्पण करने योग्य जिन वस्तुओंका समर्पण / उपयोग प्रभुकी सेवामें न हुवा हो उनके परित्यागको असमर्पितत्याग कहा जाता है. सर्वस्वका समर्पण तथा असमर्पितवस्तुका त्याग इन दो कर्तव्योंका पालन तो किसी भी ब्रह्मसम्बन्धि वैष्णवकेलिये अनिवार्य होता है. ब्रह्मसम्बन्धदीक्षासे दीक्षित वैष्णव यदि अपने घरमें भगवत्सेवा नहीं करता है तो उसकी समूची धन-सम्पत्ति, लौकिक-वैदिक सर्व व्यवहार, परिवारजन, देह तथा घर का प्रभुसेवामें समर्पण नहीं हो पाता है. उसका सब कुछ असमर्पित ही रह जाता है. अतएव, त्याज्य बन जाता है. सर्वस्वका समर्पण प्रभुको हो सके तदर्थ गृहसेवा(अपने ही घरमें प्रभुकी सेवा करनी) ही एक मात्र उपाय श्रीआचार्यचरणने दिखलाया है.

३. स्वगृहसेवाके अभावमें सब असमर्पित :

सर्वस्वका समर्पण अपने घरमें प्रभुको पधराए बिना सम्भव नहीं होता है. अतएव, जो ब्रह्मसम्बन्धि लोग अपने घरमें प्रभुसेवा न करके जाहिर मन्दिर-हवेलीओंमें भेंट-सामग्री पधराकर, मनोरथ करवाकर अथवा झाडु-माला-फूलकी सेवा करके कर्तव्यके पालनका जूठा सन्तोष मान लेते हैं, उनके घर परिवार, धनसम्पत्ति, खाद्य-पेय पदार्थ आदि सब कुछ असमर्पित ही रह जाते हैं. और यहां यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि ब्रह्मसम्बन्धिको असमर्पित पदार्थोंका सर्व प्रकारसे त्याग करना चाहिये ऐसी आज्ञा स्वयं भगवानने श्रीमहाप्रभुजीको दी है. अतः स्वगृहमें प्रभुको न पधराकर असमर्पितजीवन व्यतीत करनेवाले तथा मन्दिर-हवेलिओंमें भटकते फिरते दर्शनवादी लोग असमर्पित वस्तुके उपभोगसे लगनेवाले महाअपराधसे यदि बचना चाहते हों तो उनकेलिये स्वगृहमें प्रभुसेवा करना ही एक मात्र उपाय है. प्रभुको अपना गृहस्वामी मानकर उनको स्व-सर्वस्वका समर्पण करनेके पश्चात् समर्पित प्रसादके रूपमें जो प्राप्त हो उन्हीं पदार्थोंका उपयोग यदि अपने जीवननिर्वाहार्थ किया जाता है तब ही असमर्पित पदार्थोंके उपयोगसे होनेवाले अपराधोंसे बचा जा सकता है. पुनः कहा जाय तो स्वगृहमें प्रभुकी सेवाके बिना यह सम्भव नहीं है.

४. भक्तिकी वृद्धि एकान्तसाधनासे ही :

हृदयमें छिपे हुवे स्नेहभावको यदि व्यक्त नहीं किया जाता है तो वह अन्दर रहे-रहे रुंध जाता है. और स्नेहभावको यदि फूहड़तासे प्रकट कर दिया जाता है तो उसका भौंडा प्रदर्शन ही होता है. अतएव, स्नेहभावको यदि व्यक्त भी करना है और उसके भौंडे प्रदर्शनसे बचना भी है तो उसकी अभिव्यक्तिका योग्य प्रकार जान लेना आवश्यक है. पुष्टिभक्तिमार्गिओंको प्रभुके प्रति अपना स्नेहभाव किस प्रकार व्यक्त करना चाहिये उसका निरूपण श्रीआचार्यचरणने 'भक्तिवर्धिनी'ग्रन्थमें किया है :—

स्नेहकी अभिव्यक्ति सार्वजनिकरूपसे नहीं की जाती है. अन्यथा स्नेहभावकी सुन्दरता तथा सरसता खण्डित हो जाती है. प्रभुसम्बन्धि स्नेहको ही भक्ति कहा जाता है. और (१) स्वगृहमें सर्वस्वसमर्पणात्मिका तनुवित्तजासेवा तथा (२) प्रभुके रूप नाम गुण तथा लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरण भक्तोंके हृदयस्थित भावोंको प्रभु सम्मुख अभिव्यक्त करने के पुष्टिभक्तिमार्गीय दो उपाय हैं. इन उपायोंकी उपेक्षा करके यदि हम हमारे भक्तिभावोंको अथवा प्रभुसेवाको सार्वजनिकरूपसे प्रदर्शित करते हैं, जैसा कि आधुनिक मन्दिर-हवेलिओंमें किया जाता है, तो उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता है. सार्वजनिकरूपमें विकृत हुवे पुष्टिमार्गीय मन्दिर-हवेलियोंके माध्यमसे आज जिस प्रकार गोप्यातिगोप्य पुष्टिभावों-मनोरथों-सेवाप्रकारोंका जनसाधारणके सामने प्रदर्शन हो रहा है उसके कारण निरुपाधिक पुष्टिभक्तिका स्वरूप विकृत हो रहा है तथा श्रीआचार्यचरणद्वारा स्थापित स्वमार्गीय सिद्धान्तोंका हनन हो रहा है. अतएव, सार्वजनिक (मन्दिर-हवेलिओं जैसे) सेवा-भक्तिके प्रकारोंका पुष्टिभक्तिमार्गमें निषेध करनेके अभिप्रायसे ही श्रीआचार्यचरण श्रीभागवतकी 'सुबोधिनी'नामकी व्याख्यामें आज्ञा करते हैं :—

> गुप्त रखने पर ही भक्तिका भाव (रस) उसकी पूर्णताको प्राप्त कर सकता है. परन्तु, उसको यदि प्रकट-जाहिर कर दिया जाता है तो भक्तिभाव फजीयत(रसाभास) बन जाता है.

भक्तिभावकी ऐसी फजीयत न हो उसका उपाय बताते हुवे श्रीपुरुषोत्तमजी अणुभाष्यकी 'प्रकाश'व्याख्यामें आज्ञा करते हैं :—

> घरमें रहकर प्रभुसेवा करनी चाहिये और अपने धर्मके रहस्य (प्रभुसेवा-भक्तिभाव)को गुप्त रखना चाहिये.

श्रीहरिरायचरण भी, अतएव, शिक्षापत्रमें अति सुन्दर आज्ञा करते हैं :—

> प्रभु अपने घरमें श्रीमहाप्रभुजीकी कृपासे बिराजमान

> तो अवश्य होते हैं परन्तु प्रभुकी भक्तगृहमें स्थिति ऐसी होती कि है जैसी स्थिति हाथमें रखे हुवे पारेकी होती है. जरा सा भी ध्यान हट जाने पर पारा जिस प्रकार हाथमेंसे सरक जाता है वैसा ही प्रभुका भी है. चंचल चित्तके चलित होते हि प्रभु भी हमारे चित्तमेंसे चलित हो जाते हैं. अतएव, प्रभुकी सेवा एक योगी की तरह एकाग्रता तथा सावधानीके साथ करनी चाहिये.

पारा यदि किसी चञ्चल अथवा अव्यवस्थित व्यक्तिके हाथमें आ जाता है तो वह उसके हाथमें अधिक समय तक टिक नहीं पाता है. उसी प्रकार श्रीठाकुरजीकी सेवा भी जब श्रीमहाप्रभुजीद्वारा स्थापित सिद्धान्तमर्यादामें रहकर एकान्तपूर्वक - अपने घरमें नहीं की जाती है, जब उसका सरेआम (हवेली-मन्दिरोंकी तरह)प्रदर्शन किया जाता है; अथवा आम लोगोंसे भेंट-सामग्री लेकर सेवा की या करवाई जाती है तब सेवा करनेवालेके हृदयमें भगवद्भक्तिका सञ्चार कभी भी नहीं हो सकता है. यहाँ पर एक बात सभी पुष्टिभक्तिमार्गिओंको अपने हृदयमें लिख लेनी चाहिये कि पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाके विषयमें श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त सभीकेलिये समान ही है, भले ही फिर वो अनुयायी वैष्णव हों अथवा खुद वल्लभवंशज गोस्वामी आचार्य हों. अतएव, श्रीहरिरायचरण आज्ञा करते हैं कि जिसका चित्त कहीं भटकता नहीं है तथा जिसकी क्रिया भी अत्यन्त संयत होती है वैसे योगीके हाथमें ही पारा स्थिर रह सकता है. अतः पुष्टिमार्गीको चाहिये कि वह एक योगीकी तरह एकाग्रचित्त तथा संयत होकर प्रभुकी सेवा करे.

५. प्रभुकी स्वार्थप्रतिष्ठा = गृहसेवा :

सेव्यस्वरूपके प्रकरणमें देवमूर्तिकी प्रतिष्ठाके स्वार्थ तथा परार्थ यों दो प्रकारोंका विवेचन किया गया था. वहाँ यह स्पष्टता भी कर दी गई थी कि मर्यादामार्गीय उपासनामार्गमें

सार्वजनिक उपासनाभक्तिका जैसा प्रकार परार्थप्रतिष्ठापित देवमूर्तिमें स्वीकारा गया है वैसा परार्थप्रतिष्ठाका प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें स्वीकृत नहीं है. पुष्टिभक्तिमार्गमें तो "मैं इस जीवका उद्धार करुंगा" ऐसी भक्तके व्यक्तिगत उद्धारकी विशेष इच्छासे प्रभु भक्तके घरमें पधारते होनेसे, मर्यादामार्गीय स्वार्थ-प्राणप्रतिष्ठाके जैसा ही भावप्रतिष्ठाका प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें स्वीकारा गया है. और, क्योंकि, स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवा तो मात्र सेवाकर्ताके घरमें ही की जा सकती है, जाहिर मन्दिर या हवेली जैसे स्थानोमें नहीं, अतएव गृहसेवा ही एकमात्र सेवाका प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गमें स्वीकृत होता है.

८. सेवार्थ आजीविका

देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्ण तो सर्वसे उत्तम हैं, पुरुषोत्तम हैं. ऐसे उत्तम स्वामीकी सेवा सम्प्रदाय तथा शास्त्रनिन्दित-निषिद्ध द्रव्य अथवा सामग्री से कैसे की जा सकती है? अतएव, श्रीआचार्यचरण 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'ग्रन्थमें आज्ञा करते हैं:

> लोकमें जिसे उत्तम माना जाता हो उसी वस्तुको कृष्णकी सेवामें प्रयुक्त करना चाहिये. अतएव, सेवामें समर्पित होनेवाले द्रव्य-सामग्री भी सन्मार्ग (जिस धन्धे-रोजगारको शास्त्र अथवा सम्प्रदाय में निषिद्ध या निन्दित न माना गया हो उस)से उपार्जित होनी चाहिये. (चोरी-डकैती, जुआ, देवलकवृत्ति या भागवतवृत्ति आदि जिन वृत्तिओंको शास्त्र अथवा सम्प्रदायमें निषिद्ध या निन्दित माना गया है वैसे) अन्य प्रकारसे उपार्जित द्रव्य-सामग्रीके समर्पणका निषेध करनेकेलिये ही यह बात कही गई है.

अतएव, पुष्टिमार्गके अनुगामी बननेके पश्चात् तो कमसे कम शास्त्र तथा सम्प्रदाय में निषिद्ध या निन्दित हो वैसे धन्धे-रोजगारका त्याग करना ही चाहिये. इस विषयको समझानेवाली दो अत्यन्त सुन्दर घटनाएँ श्रीआचार्यचरणके ८४ वैष्णवोंके वार्ताप्रसंगोंमें वर्णित हैं.

बाबावेणु सारस्वत ब्राह्मण थे. अज्ञानवशात् उन्होंने मन्दिर बनाकर उसमें एक भगवत्स्वरूपकी देवीके रूपमें प्रतिष्ठा की थी. उस मन्दिरकी आयसे, अर्थात् देवलकवृत्तिसे वे अपनी आजिविका चलाते थे. जब उनके गाँवमें श्रीमहाप्रभुजी पधारे तब प्रभुकी प्रेरणासे बाबावेणु श्रीमहाप्रभुजीके शिष्य बने. श्रीमहाप्रभुजीने भगवत्स्वरूपको अपने घर पधराकर, गांवके कोई लोग इस बातको जान न सकें वैसे गुप्त प्रकारसे श्रीठाकुरजीकी सेवा करनेकेलिये उनसे कहा. बादमें तालाबके किनारे जहाँ बाबावणुने देवीका मन्दिर बनाया था उस मन्दिरमें देवीकी एक मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके अन्य ब्राह्मणद्वारा उनकी पूजा करवानेकी व्यवस्था श्रीमहाप्रभुने करवाई. इसके साथमें

एक खास आज्ञा श्रीआचार्यचरणने यह दी कि देवीके मन्दिरमें आनेवाली भेंट-सामग्रीमेंसे बाबावेणु कुछ भी अपने उपयोगमें न लें.

श्रीमहाप्रभुजीकी इस आज्ञाके पीछे यही रहस्य था कि देवी-देवताओंकी सेवा-पूजा जो व्यक्ति अपनी आजीविका चलानेकेलिये करता है उसको तो शास्त्रने महापापी अपवित्र 'देवलक' कहा है. ऐसे देवलकको तो यदि भूलसे छू भी लिया जाता है तो वस्त्रसहित स्नान करने पर ही शुद्धि होती है ऐसा शास्त्रमें कहा गया है. ऐसी शास्त्रनिषिद्ध आजीविका एक वैष्णवकी और वह भी पुष्टिमार्गी वैष्णवकी कैसे हो सकती है! और फिर ऐसे शास्त्रनिन्दित प्रकारसे उपार्जित द्रव्यसे प्रभुकी सेवा की ही कैसे जा सकती है! अतएव, श्रीआचार्यचरणने उनकी देवलकवृत्तिको छुड़ाकर उत्तम द्रव्य-सामग्रीसे प्रभुसेवा करनेकी आज्ञा की.

पद्मनाभदास तथा जगतानन्द नामके श्रीआचार्यचरणके शिष्य भी वैष्णव होनेसे पहले श्रीभागवतकी कथा-सप्ताह करके अपनी आजीविका चलाया करते थे. श्रीभागवत तो साक्षात् भगवानका ही नामात्मक स्वरूप है. उन्हें अपनी आजीविकाका साधन बनानेवाला पुष्टिभक्तिमार्गी हो ही कैसे सकता है! ऐसा विचार करके श्रीमहाप्रभुजीने अपने 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध'ग्रन्थके श्लोक उन दोनोंको सुनाए:—

> (पैसे कमाने, चन्दा इकट्ठा करने या मरणोत्तर उद्धार करने जैसे) अन्य किसी भी हेतुके बिना ही श्रीभागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक खुद ही करना चाहिये. प्राण अपने कण्ठ तक भी क्यों न आ जायें (अर्थात् भूखे भले ही मर जाना) तथापि आजीविकाकेलिये तो श्रीभागवतका उपयोग नहीं ही करना चाहिये.

यह सुनकर पद्मनाभदासजी तथा जगतानन्द ने हाथमें पानी लेकर संकल्प किया कि आजके बाद कभी भी श्रीभागवतका उपयोग वे पैसे कमानेकेलिये या आजीविकार्थ नहीं करेंगे. उन्होंने आजीविकार्थ भागवतकथा करनी छोड दी.

इन सबसे निष्कर्ष यही निकलता है कि पूर्णपुरुषोत्तम प्रभुकी सेवा उत्तमोत्तम द्रव्य-सामग्रीसे ही करनी चाहिये, शास्त्र या सम्प्रदाय में निषिद्ध या निन्दित प्रकारसे उपार्जित द्रव्य-सामग्रीसे नहीं.

९. सेवा तथा सदाचार

शास्त्रमें निर्दिष्ट शुद्धि तथा अशुद्धि के नियमानुसार पाले जाते आचारको सनातन-हिन्दुधर्ममें 'सदाचार' कहा जाता है.

सदाचारका महत्त्व दिखलाते हुवे शास्त्रमें कहा गया है:—

आचार प्रथमो धर्मः

भावार्थः सदाचार प्रथम धर्म है.

आचारहीनं न पुनाति वेदः

भावार्थः सदाचारका पालन न करनेवालेको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं.

पुष्टिभक्तिमार्ग सनातन(हिन्दु) धर्मका ही एक विशिष्ट सम्प्रदाय होनेसे एवं प्रत्येक पुष्टिभक्तिमार्गी सर्व प्रथम एक सनातनधर्मी(हिन्दु) होनेसे पुष्टिभक्तिमार्गकिलिये भी शास्त्रनिर्दिष्ट शुद्धि-अशुद्धिके नियमोंका पालन करना उतना ही आवश्यक होता है जितना कि आवश्यक एक सामान्य हिन्दुकेलिए होता है.

प्रभुसेवा उत्तमोत्तम प्रकारसे करनी चाहिये इस बातको हम पूर्वप्रकरणमें समझ ही चुके हैं. अतएव, जिन तन-मन-धन आदिसे प्रभुसेवा की जाती है उनका भी उत्तम-पवित्र होना अत्यन्त आवश्यक होता है. तन-मन-धनकी आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक पवित्रता धर्मशास्त्रीय सदाचारके पालनसे होती है. एतदर्थ शास्त्रोक्त सदाचारका पालन करना हरएक पुष्टिभक्तिमार्गकिलिए आवश्यक बन जाता है. शास्त्रोक्त कुछ सदाचारोंको यदि गिनाया जाय तोः—

—अपवित्र वस्तु अथवा व्यक्ति का स्पर्श नहीं करना चाहिये. यदि कभी स्पर्श हो जाये तो प्राणायाम मार्जन अथवा स्नानादि द्वारा यथायोग्य प्रकारसे शुद्धि करनी चाहिये.

—अस्पृश्यका स्पर्श हुआ हो अथवा; सूतकादि या मलोत्सर्गादि क्रिया के कारण अपवित्रता आयी हो तो शुद्ध हुवे बिना पवित्र कार्य नहीं करने चाहिये.

—प्याज लहसुन गाजर तरबूच अण्डे-मांस आदि अभक्ष्य

पदार्थोंका भक्षण नहीं करना चाहिये. उसी प्रकार, मदिरा अथवा तत्समान अन्य नशाकारक पेय पदार्थ भी नहीं पीने चाहिये.

—सभी वर्णाश्रमिओंको, अपने-अपने ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णधर्म तथा ब्रह्मचर्य-गृहस्थादि आश्रमधर्म के अनुसार शास्त्रनिर्दिष्ट आजीविकाद्वारा ही धनोपार्जन करना चाहिये. इत्यादि (आजके समयमें उपरोक्त अथवा तत्सदृश किन्हीं नियमोंका पालन यदि शक्य नहीं लगता हो तो शास्त्रनिन्दित तथा निषिद्ध आचारका त्याग तो अवश्य करना ही चाहिये).

शास्त्रीय सदाचारका पालन करनेसे धर्मकार्य करनेकी योग्यता प्राप्त होती है. अबोध स्वेच्छाचारी बालकको कहाँ किसके सामने कैसा व्यवहार करना चाहिये इत्यादि बातोंका ज्ञान नहीं होता है; वृद्धजन ऐसे अबोध बालकोंको समझा-बुझाकर सभ्य समाजमें उठने-बैठने लायक बनाते हैं. इसी प्रकार, शास्त्र भी मनुष्यके स्वच्छन्द आचारके ऊपर सदाचारके नियमोंका अंकुश रखकर उसको धर्मकार्य करने योग्य पवित्र बनाता है.

स्वच्छन्दी रहना किसको पसन्द नहीं होता? स्वच्छन्दी मनोवृत्तिके कारण कभी-कभी हमारे मनमें शास्त्रीय सदाचारके नियमोंके प्रति अरुचि अथवा उपेक्षा के भाव जग जाते हैं. ऐसे समय; हमें समझना चाहिये कि वृद्धजनोंकी शिक्षा जैसे बालकोंके हितार्थ ही होती है उसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेध भी हमारे हितार्थ ही होते हैं. शास्त्रोंके ऊपर ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर सदाचारके नियमोंके प्रति अरुचि तथा उपेक्षाके भावोंको मनमेंसे निकाल देना चाहिये. साथ ही साथ ऐसा अलौकिक भाव मनमें रखकर शास्त्रीय सदाचारका पालन करना चाहिये कि जितने ज्यादा हम शुद्ध-पवित्र होकर प्रभुसेवामें जायेंगे उतने ही ज्यादा प्रभु प्रसन्न होंगे.

प्रासंगिक होनेसे सदाचारके विषयमें एक स्पष्टीकरण हमको समझ लेना चाहिये. सदाचारके नियमोंका निरूपण जिनमें हुवा है उन धर्मशास्त्रोंकी दृष्टिमें भी सदाचारके नियम जड़ नहीं होते हैं. अर्थात्, कैसी भी परिस्थिति हो, नियम

तो नियम ही होता है, नियमका पालन तो होना ही चाहिये —ऐसे जड़ाग्रहको धर्मशास्त्र उचित नहीं मानता है. धर्मशास्त्रानुसार सदाचारके नियम स्थितिस्थापक होते हैं. यथा; प्रतिदिन स्नानादिसे शुद्ध होकर धर्मकार्य करने चाहिये ऐसा एक नियम है. जो व्यक्ति, परन्तु, बीमार हो तथा बाल भिगोकर स्नान करनेसे जिसके स्वास्थ्यको ज्यादा हानि पहुंच सकती हो उसकेलिये बालको भिगोए बिना भी स्नान करनेकी; अथवा किसी विशेष परिस्थितिमें तो केवल मार्जन (मन्त्रोच्चारपूर्वक पानी छिडककर) अथवा आचमन करके भी धर्मकार्य करनेकी छूट शास्त्रमें दी गई है. उसी प्रकार; मान लो कि अलमारीमें रखे हुवे कपड़ोंको किसी अपवित्र व्यक्तिका स्पर्श हो जाता है तो हम कहते हैं कि कपड़े अपवित्र हो गये. अभ्यासानुसार हम उन कपड़ोंको भिगोकर शुद्ध करना चाहेंगे, क्योंकि नियमानुसार कपड़ोंकी शुद्धि जलद्वारा धोनेसे होती है. परन्तु, कपडे यदि अधिक मात्रामें हों तो उनके ऊपर जल छिड़क देने मात्रसे भी उनकी शुद्धि हो सकती है ऐसा भी धर्मशास्त्रमें कहा गया है. उसी प्रकार, अपवित्र व्यक्तिका स्पर्श होने पर धर्मशास्त्र स्नानका विधान करता है. ऐसा स्पर्श, परन्तु, जहाँ बहुतसे लोग इकट्ठे होते हों ऐसे मेले, उत्सवप्रसंग, विवाह, यात्रा अथवा प्राकृतिक आपत्ति आदिमें हुआ हो तो वैसे स्पर्शसे अपवित्रता नहीं आती है.

इन दृष्टान्तोंसे हम समझ सकते हैं कि शास्त्रोंमें एक ओर जहाँ नियम बनाये गये हैं वहीं दूसरी ओर उन नियमोंके अपवाद भी दिखाये ही गये हैं. अतएव, सदाचारके नियमोंको जड़ नहीं समझ लेना चाहिये. ये नियम जड़ नहीं होते हैं उसका अर्थ ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि उन नियमोंका पालन स्वच्छन्दतासे हो सकता है. ऐसी स्थितिमें मनमें एक प्रश्न हो सकता है कि एक ओर तो सदाचारके नियम जड़ नहीं है ऐसा कहा जाता है तथा दूसरी ओर उनके आचरणमें स्वतन्त्रताका निषेध भी किया जाता है; तब हमें अपने कर्तव्योंका निर्धारण कैसे

करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर पानेकेलिये विधि-निषेधके निरूपणकी धर्मशास्त्रीय शैलीकी थोड़ी समझ लेनी होगी.

धर्मशास्त्रोंमें कर्तव्योंका निरूपण उत्सर्ग अपवाद एवं प्रतिप्रसव की शैलीसे किया जाता है. इनको हम यथाक्रम समझेंगे.

उत्सर्ग :

सामान्य परिस्थितिमें पालनेके नियमको 'उत्सर्ग' (= सामान्यनियम) कहा जाता है. यथा, "सत्य बोलना चाहिये, असत्य नहीं बोलना चाहिये." —यह एक सामान्यनियम = उत्सर्ग है.

अपवाद :

असाधारण अथवा विशेष परिस्थितिका निर्माण होने पर सामान्यनियममें जिस नियमके आधार पर छूट ली/दी जाती है उसे 'अपवाद' कहा जाता है. यथा— "असत्य बोलनेसे यदि किसी निर्दोषको जीवनदान मिल सकता हो तो अथवा किसीको हानि नहीं पहुंचती हो वैसे खेल-कूदमें या हंसी-मजाकमें असत्य बोलने पर दोष नहीं लगता है."

प्रतिप्रसव :

विशेषमें भी विशेष अर्थात् अतिविशिष्ट परिस्थितिमें अपवादनियमके आधारपर प्राप्त होती स्वतन्त्रताका पुनः निषेध कर दिया जाता है. ऐसी स्थितिमें पुनः सामान्यनियमानुसार ही आचरण करना होता है. अतएव, अपवादके अपवादको प्रतिप्रसव कहा जाता है ऐसा कह सकते हैं. यथा, देवपूजा अथवा किसी विशेष प्रकारके यज्ञमें कितनी भी विकट परिस्थितिका निर्माण क्यों न हो जाय, असत्य नहीं ही बोला जा सकता है.

धर्मशास्त्रीय नियमोंका पालन करते समय कौनसा नियम कैसी परिस्थितिको लक्ष्यमें रखकर किसकेलिये बनाया गया है उसका विचार करके ही कर्तव्यका निर्णय करना चाहिये. उसी प्रकार; धर्मशास्त्रीय कर्तव्य युग वर्ष मास तिथि वार आदि समय, स्वगृह परगृह तीर्थ देवालय वाहन आसन

पंक्ति आदि स्थान, यात्रा-महोत्सव ग्रहण श्राद्ध जन्म-मरण सुकाल-दुष्काल आदि निमित्त / परिस्थिति, व्यक्तिकी आर्थिक शक्ति, आयु, रोगादि शारीरिक-मानसिक अवस्था वर्ण-आश्रम इत्यादिको लक्ष्यमें रखकर निर्धारित किये जाते हैं. अतएव, शुद्धि-अशुद्धि आदिके निर्णय भी उपरोक्त सर्व बातोंको ध्यानमें रखकर ही करने होते हैं. अतः, कहा गया है कि व्यक्तिकी शक्ति-सामर्थ्य, स्थान, समय आदि उपरोक्त बातोंको ध्यानमें रखे बिना ही जो व्यक्ति(गुरु) धर्मशास्त्रीय शुद्धि-अशुद्धि अथवा प्रायश्चित्तादि का निर्णय दे देते हैं वे पापको ही निमन्त्रण देते हैं. अतएव, श्रीमहाप्रभुजी भी 'सुबोधिनी'में आज्ञा करते हैं :—

अनाचार: सदा त्याज्यो अत्याचारोपि मूर्खता
भावार्थ: अनाचारका तो सदा त्याग करना ही चाहिये
परन्तु अति + आचार (=अत्याचार) भी मूर्खता
ही है.

आचार्यचरणके वचनोंका आशय यही है कि धर्मशास्त्रीय आचारोंका पालन यदि उत्सर्ग अपवाद एवं प्रतिप्रसव का यथायोग्य विचार करनेके पश्चात् किया जाता है तो वैसा आचार अत्याचार नहीं बनता है, सदाचार ही रहता है. यहाँ, परन्तु, एक बात विशेषरूपसे समझ लेनी चाहिये कि संयोगवशात् यदि किसी सामान्य नियममें छूट लेनी पड़ती है तो वह छूट भी शास्त्रीय अपवादनियमके आधार पर ही लेनी चाहिये, मन:कल्पित प्रकारसे नहीं.

इन सबका सार यही है कि पवित्रतम ऐसे अपने सेव्यप्रभुकी सेवा जितनी पवित्रतासे की जायेगी उतने ही ज्यादा प्रसन्न प्रभु हमारे ऊपर होंगे. अतएव, प्रभुकी प्रसन्नताकी भावना मनमें रखकर यथासम्भव अधिकसे अधिक सदाचारका पालन करते हुवे प्रभुसेवा करनी चाहिये. अन्तमें, सदाचारके पालनकी आवश्यकता प्रभुसेवाकेलिए होती है, प्रभुसेवा किसी भी स्थितिमें सदाचारके पालनार्थ नहीं हो सकती है यह बात कदापि भूलनी नहीं चाहिये. अतएव, सदाचारके बहाने न तो प्रभुसेवासे विमुख रहना चाहिये और न ही गुरुजनोंको

किसी शिष्यको विमुख ही करना चाहिये. सदाचार वर्णाश्रमधर्मोक्त देहधर्म होता है जब कि प्रभुसेवा आत्मधर्म होती है. देहधर्म आत्मधर्मके सामने हमेशा अमुख्य होता है.

ज्ञान कसोटी

१. दीक्षादानविचार

१. दीक्षा मन्त्रका एक विशिष्टप्रकारका दान है. कैसे?
२. दानके छह अंग गिनाओ.
३. योग्य दान किसे कहते हैं?
४. अयोग्य दान किसे कहते हैं?
५. मन्त्रदानांगमें 'मन्त्रदाता'का विस्तारपूर्वक वर्णन करो.
६. गुरुमें सामान्यतया होनी आवश्यक तीन योग्यताओंका वर्णन करो.
७. मन्त्रदानांगोंमें 'मन्त्रग्रहीता'का सविस्तार वर्णन करो.
८. अयोग्यको दीक्षा देनी नहीं चाहिये, क्यों?
९. मन्त्रदानांगोंमें 'देयवस्तु'का सविस्तार वर्णन करो.
१०. 'मन्त्रभाग' तथा 'उपदेश' किसे कहते हैं?
११. दीक्षामन्त्रकी छह उपयोगिताएँ गिनाईए.
१२. दीक्षामन्त्रका ज्ञान एवं नित्यस्मरण जरूरी क्यों है?
१३. मन्त्रकी गुप्तता बनाए रखनेकेलिए क्या करना तथा क्या नहीं करना चाहिए?
१४. 'दीक्षास्थान'का सविस्तार वर्णन करो.
१५. कैसे-कैसे स्थलोंमें दीक्षा नहीं दी जा सकती है? क्यों?
१६. अयोग्य स्थलमें दीक्षा देनेसे क्या होता है?
१७. 'दीक्षासमय'का सविस्तार वर्णन करो.
१८. दीक्षादानकेलिये योग्य समय कौनसा गिना जाता है?
१९. समयसे पहले दीक्षा देनेसे क्या हानि हो सकती है?
२०. कैसी स्थितिमें दीक्षा लेनेकी धांधली शिष्यको नहीं करनी चाहिए?
२१. सम्प्रदायमें प्रवेश पानेकी तीन शर्तें गिनाईये.
२२. दीक्षा लेकर भी सम्प्रदायानुसार आचरण नहीं करनेवालेकी स्थिति क्या समझनी चाहिये?
२३. श्रीनरहरदासके प्रसंगसे क्या सबक मिलता है?
२४. मन्त्रदानांग: उपक्रम तथा भावना का वर्णन करो.
२५. गुरुद्वारा शिष्यका पालन-पोषण-रक्षण किस तरहसे होना चाहिए?
२६. क्षत्रियवैष्णवके प्रसंगसे क्या बोध मिलता है?
२७. गुरु-शिष्यको परस्पर कैसी भावनाएँ मनमें नहीं रखनी चाहिए?
२८. सम्प्रदायोंमें दीक्षाप्रणाली क्यों रखी जाती है?
२९. दीक्षा एक प्रकारका संकल्प है —समझाओ.
३०. दीक्षाद्वारा शिष्यको सम्प्रदायमें मान्यता प्राप्त होती है, कैसे?
३१. मान्यता पानेकेलिए जरूरी तीन शर्तें बताईए.
३२. मान्यताप्राप्त तथा मान्यता-अप्राप्त के बिच भेद बताईए.

३३. दीक्षासे पवित्रता कैसे होती है?
३४. पवित्रताके दो प्रकारोंका वर्णन करो.
३५. दीक्षार्थ किये गये स्नान-उपवाससे क्या लाभ होता है?
३६. दीक्षाका एक प्रयोजन शिष्यकी योग्यताकी कसौटी भी है, कैसे?

२. पुष्टिभक्तिमार्गीयदीक्षाका विचार

१. पुष्टिमार्गीय दो दीक्षाओंका वर्णन करो.
२. शरणदीक्षाका प्रयोजन क्या होता है?.
३. आत्मनिवेदनदीक्षा क्यों दी जाती है?
४. पुष्टिभक्तिमार्गीय मन्त्रदीक्षाके सन्दर्भमें मन्त्रदानके छह अंगोंका सविस्तार विवेचन करो.
५. पुष्टिमार्गीय गुरुके लक्षण गिनाईए तथा प्रत्येकका विवेचन कीजिए.
६. वल्लभवंशज स्त्री = बेटीजी दीक्षा देनेकेलिए क्यों योग्य नहीं गिने जाते?
७. कौनसे जीवोंका ब्रह्मसम्बन्ध करानेसे उनके दोष दूर होते हैं?
८. पुष्टिजीवोंको कैसे परखा जा सकता है?
९. मार्गमें रुचि कैसे हो सकती है? रुचि उत्पन्न करनेके योग्य-अयोग्य प्रकारोंका वर्णन करें.
१०. गुरुका नाश कब होता है?
११. गुरुको भगवद्नाम बेचनेका अपरोध कब लगता है?
१२. शिष्य ढोंगी-पाखंडी कब गिना जाता है?
१३. शरणदीक्षा किसे देनी चाहिए?
१४. समर्पणमन्त्रदीक्षा किसे देनी चाहिए?
१५. शरणदीक्षा = सगाइ तथा ब्रह्मसम्बन्ध = लग्न — इस सूत्रको समझाईए.
१६. किस प्रकारके ब्रह्मसम्बन्धि व्यक्तिका प्रभुने त्याग किया है वैसा समझना चाहिए?
१७. शरणमन्त्रकी उत्पत्तिका बीज क्या है?
१८. समर्पणमन्त्रकी उत्पत्तिका प्रकार बताईए.
१९. दीक्षामन्त्रका जप किस तरह करना चाहिए?
२०. कैसी स्थितिमें दीक्षमन्त्रका जप नहीं करना चाहिये?
२१. पुष्टिमार्गीय दीक्षास्थान कैसा होना चाहिए?
२२. कैसे स्थलमें दीक्षाका दान अयोग्य गिना जाता है?
२३. शरणदीक्षा कब देनी चाहिए?
२४. समर्पणदीक्षा कब देनी चाहिये?
२५. दीक्षाके उपक्रम - प्रक्रियाका वर्णन करो.
२६. दीक्षामें गुरुशिष्यकी भावना कैसी होनी चाहिए?
२७. कैसी भावनाओंको रखकर दीक्षा नहीं लेनी चाहिये?

३. सेवामय जीवन

१. सेवाकी व्याख्या बताईये.
२. भक्ति / भक्तोंकी विभिन्नताका कारण बताईये.
३. अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु ज्ञानी तथा निर्गुण - पुष्टिभक्त किनको कहा जाता है?
४. "प्रभुसेवा कर्तव्य नहीं, आवश्यक्ता है" कैसे? समझाईये.
५. प्रभुसेवा-भक्तिकी आवश्यक्ता क्यों अनुभूत नहीं होती है?
६. मनुष्यके जीवनके तीन पक्षोंका वर्णन करो.
७. मनुष्यकी तीन प्रकारकी आवश्यक्ताओंका वर्णन करो.
८. आध्यात्मिक आवश्यक्ताओंका अनुभव कब होता है?
९. मनुष्यको लौकिक सुखसे सन्तोष क्यों नहीं मिलता है?
१०. प्रभुसेवाको कभी-कभी कर्तव्य धर्म या फर्ज कहा जाता है. क्यों?
११. भावोद्बोधके उपाय बताईये.
१२. भगवत्स्वरूपज्ञान किसे कहते हैं?
१३. जीवस्वरूपज्ञान किसे कहते हैं?
१४. भगवान् - जीवके सम्बन्धका ज्ञान किसे कहते हैं?
१५. समर्पणको सुपर्दगी क्यों कहा जाता है?
१६. प्रभुको अर्पण न की हो ऐसी वस्तुका उपभोग करनेसे क्या अपराध लगता है?
१७. समर्पणको स्नेहका मापदण्ड क्यों कहते हैं?
१८. किन भावोंसे जीवको प्रभुको आत्मसमर्पण करना चाहिए?
१९. निवेदन तथा समर्पण का भेद स्पष्ट करें.
२०. निवेदन - समर्पण तथा दान का भेद स्पष्ट करें.
२१. मन्दिर - हवेलिओंमें सेवा - मनोरथकेलिए सामग्री देनेके प्रकारको पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रकार क्यों नहीं कहा जा सकता है?
२२. उपरोक्त ऐसे समर्पणको क्यों मान्य नहीं रखा जाता?
२३. प्रभुको दान किया कब कहा जाता है?
२४. समर्पण तथा अनन्यता का क्या सम्बन्ध होता है?
२५. अनन्यता किसे कहते हैं?
२६. भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें वर्णित अनन्यताका स्वरूप समझाईए.
२७. पुष्टिमार्गीको कम से कम किन बातोंका त्याग करना चाहिए?
२८. अन्याश्रयत्यागका सविस्तार वर्णन करो.
२९. असमर्पितभोगके त्यागको सविस्तार समझाओ.
३०. दुःसंगत्यागको सविस्तार समझाओ.
३१. असदालाप-विचार-क्रियाके त्यागका वर्णन करें.
३२. त्याग सहज कब बन जाता है?

४. सेवाका माहात्म्य

१. पुष्टिमार्गीय साधना सेवा ही क्यों? कारण गिनाएं.
२. सेवा सर्वसाधनाओंसे श्रेष्ठतम क्यों है?
३. जीवमें भगवानके प्रति भक्ति कब जगती है?
४. भक्त प्रभुसेवाके अलावा जप - तप आदि साधनोमें मोहित क्यों नहीं होता?
५. सर्वसाधनाओंका समावेश भगवत्सेवामें किस तरह होता है?
६. अहन्ता-ममताकी शुद्धि सेवासे किस तरह होती है?
७. तनका समर्पण = अहन्ताका समर्पण कैसे?
८. वित्तादिका समर्पण = ममताका समर्पण कैसे?
९. अहन्ता-ममताको सविस्तार समझाओ. वे आत्मकल्याणमें किस प्रकार प्रतिबन्धक होती हैं?
१०. लौकिक तथा अलौकिक अहन्ता-ममताका भेद स्पष्ट करें. ११. भगवत्सेवक उत्तमोत्तम योगी है, गीताके आधारसे समझाईए.

५. सेवास्वरूप

१. सेवाके दो प्रकार गिनाएं.
२. फलरूपा सेवा किसे कहते हैं?
३. साधनरूपा सेवा किसे कहते हैं?
४. निवेदनको मौखिक समर्पण क्यों कहा जाता है?
५. निवेदन तथा समर्पण के बीच क्या भेद होता है?
६. निवेदित वस्तु असमर्पित कब तक रहती है?
७. 'तनुजा और / अथवा वित्तजा' नहीं; 'तनुवित्तजा' — इस कथनका तात्पर्य स्पष्ट करें.
८. किसी दूसरे व्यक्तिको पैसा देकर करवाई जाती सेवा सेवा नहीं कहलाती है, क्यों?
९. किसीसे पैसे लेकर की जाती सेवा सेवा नहीं होती है, क्यों?
१०. श्रीमहाप्रभुजीने तनुजासेवा, वित्तजासेवा ऐसे सेवाके दो प्रकार न बतलाकर 'तनुवित्तजा' यों समस्तपदका प्रयोग क्यों किया है?
११. भाड़ूती सेवा किसे कहते हैं?
१२. पराये पैसेसे तनुजा सेवा करनेवाला क्यों पापी बनता है?

६. सेव्यस्वरूप

१. सेव्यस्वरूप किन्हें कहते हैं?
२. पुष्टिभक्तिमार्गमें सेव्य किसे मानते हैं?
३. प्रभु वैष्णवके घरमें सेव्यस्वरूपतया कब पधारते हैं?
४. सेव्यस्वरूपमें कैसा भाव रखना चाहिए?

५. सेव्यस्वरूपमें कैसा भाव नहीं रखना चाहिए?
६. सेव्यस्वरूपको भगवानका प्राकट्य / अवतार क्यों मानते हैं?
७. प्रभुका अनुभव सबको नहीं होता?
८. अवतारलीला / प्रकटलीला किसे कहते हैं?
९. अनवतारकालीन / अप्रकट लीला किसे कहते हैं?
१०. अवतारकालमें सबको प्रभुका अनुभव क्यों होता है?
११. अनवतारकालमें सबको प्रभुका अनुभव क्यों नहीं होता है?
१२. पुष्टिमार्गमें सर्वदा अवतारकाल ही होता है, कैसे?
१३. अज्ञानके कारण भगवदनुभूति क्यों नहीं होती? दृष्टान्तसे समझाईए.
१४. भगवदाराधन सर्वत्र करनेका निषेध शास्त्र क्यों करता है? दृष्टान्तसहित समझाईए.
१५. प्राणप्रतिष्ठाविधि किसे कहते हैं?
१६. प्राणप्रतिष्ठाके प्रकार गिनाईए.
१७. स्वार्थप्रतिष्ठा तथा परार्थप्रतिष्ठा किसे कहते हैं?
१८. स्वार्थप्रतिष्ठापित देवकी सेवा किस तरह करनी तथा किस तरह नहीं करनी चाहिए?
१९. देवलक किसे कहते हैं?
२०. परार्थप्रतिष्ठाके जैसा भावप्रतिष्ठाका प्रकार पुष्टिमार्गमें क्यों अमान्य है? सविस्तार समझाएं.
२१. जाहिर या सार्वजनिक सेवाका प्रकार पुष्टिमार्गमें क्यों स्वीकार्य नहीं है?
२२. प्रभु लौकिकभावोंका पोषण क्यों नहीं करते हैं?
२३. प्रभुसेवा कैसे भावोंसे करनी चाहिए?
२४. 'सर्वभाव' शब्दके तीन अर्थ बतलाईए.
२५. स्वार्थी ठग गुरु कैसे भावोंसे प्रभुसेवा करनेका उपदेश करते हैं?
२६. केवल गुरु या गुरुविशिष्ट-पुरुषोत्तम-भावसे भगवत्स्वरूपकी सेवा करनेसे क्या अपराध लगता है? क्यों?
२७. कैसे भावोंको अपुष्टिमार्गीय भाव कहते हैं?
२८. पुष्टिमार्गीय सभी सेव्यस्वरूप साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही होते हैं ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है?
२९. किन-किन कारणोंसे सेव्यस्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव खड़े किये जाते हैं?
३०. अन्नकूटोत्सवके प्रसंगसे क्या बोध मिलता है?
३१. श्रीगुसांईजी अन्नकूटोत्सव मनानेकी सम्मति क्यों नहीं दे रहे थे?
३२. ठग उपदेशक अपना कौनसा स्वार्थ साधनेकेलिए स्वरूपोंमें ऊंच-नीचभाव या भेदभाव खडे करते हैं?

७. सेवास्थल

१. पुष्टिमार्गीय सेवास्थल कौन सा होता है?
२. सेवास्थल भक्तका अपना घर ही होता है इसे सिद्ध करनेवाले पांच कारण संक्षेपमें बताईए.

३. सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी सेवापध्धति अपनाने पर सेवा भक्तकी जीवनप्रणाली नहीं रह जाती है, धन्धा बन जाती है; कैसे?
४. गृहसेवाके बिना समर्पण कैसे अशक्य बनता है?
५. गृहसेवाके अभावमें सब असमर्पितही क्यों रह जाता है?
६. किस प्रकार प्रभुसेवा करनेसे स्नेह-भक्तिका विकास होता है?
७. 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें वर्णित स्नेहाभिव्यक्तिके दो प्रकारोंका निरूपण करें.
८. पाराके दृष्टान्तसे श्रीहरिरायचरण क्या बोध देते हैं?
९. गृहसेवा तथा स्वार्थप्रतिष्ठा एकदूसरेसे किस तरह सम्बन्धित हैं?

८. सेवार्थ आजीविका

१. बाबा वेणुदास, पद्मनाभदास तथा जगतानन्दके प्रसंगसे क्या बोध-पाठ मिलता है?
२. पुष्टिमार्गीकी आजीविका कैसी होनी चाहिए? निबन्धकी उक्तिके आधार पर समझाईए.

९. सेवा तथा सदाचार

१. सदाचार किसे कहते हैं?
२. पुष्टिभक्तिमार्गीको सदाचारका पालन क्यों करना चाहिए?
३. सदाचारके पालनसे क्या लाभ होता है?
४. सदाचारके नियम जड़ नहीं होते, कैसे?
५. उत्सर्ग, अपवाद तथा प्रतिप्रसवकी व्याख्या दें.
६. धर्मशास्त्रीय कर्तव्योंका निर्णय कैसे करना चाहिए?
७. सदाचार तथा अत्याचार का भेद समझाओ.
८. सेवाकी तुलनामें सदाचार अमुख्य है, कैसे?